कवि 'प्रसाद', 'आँसू'
तथा
अन्य कृतियाँ

लेखक—
प्रो० 'विनयमोहन शर्मा',
एम० ए०, एल-एल० बी०

प्रकाशक—
राधा बाई पण्डित
शिवाजी प्रकाशन मंदिर,
लखनऊ

विषय-सूची

अनुरागिनी

हमारा प्रकाशन

श्री गोविंदवल्लभ पंत
का
नया सामाजिक उपन्यास

गीता के मध्यम मार्ग के प्रयोगों पर उपन्यास का नायक वसंत, पर रंगों के फेर मे पड़ा हुआ। लीला, सुधारप्रिय पिता और मूर्तिपूजक माता की मानसिकता से घिरी हुई कन्या है, जो वसंत की दार्शनिकता में नाचने लगी। मिस जगदंबिका—एक कवयित्री, जिसकी भावुकता इतनी बढ़ी हुई है कि बिना किसी का पाणिग्रहण किए ही अपने को विधवा कहती है। पुनर्जन्म मे इतना विश्वास बढ़ा लेती है कि एक दिन वसंत से कह दिया—"तुम्हारे व्यक्तित्व में मेरे भूत पति की आत्मा उतर गई है।" उस दिन जब विधवा लीला का वसंत से विवाह होने जा रहा था दूसरी बार। संभव है कुछ घंटे आपका मनोरंजन हो जाय। मूल्य ४।)

मन के गीत

ले० श्री ब्रजेन्द्रनाथ गौड़

गीत, भजन, कोरस, ग़ज़ल तथा अन्य सामाजिक व सामूहिक रूप से गाने योग्य गीतों का अभूतपूर्व संग्रह।

इस संग्रह में जो गीत हैं, वे रेडियो, फिल्म और रिकार्डिंग के लिये लिखे गये थे, जिनमें से बहुत से गीत प्रयोग में लाये जा चुके हैं, इस प्रकार के मधुर, हृदयग्राही और आकर्षक गीतों का दूसरा संग्रह हिन्दी में आज तक प्रकाशित नहीं हुआ।

इसके गीतों को पढ़कर आपका तनमन नवीन उल्लास और नवीन कल्पना की स्वरलहरियों के बीच आपसे आप झूमने लगेगा।

मन के गीत—में विभिन्न प्रकार के ८७ गीत संग्रहीत हैं, और छपाई सफ़ाई अत्यन्त आकर्षक व नयनाभिराम है। क़ीमत सर्वसुलभ, केवल १० आने हैं।

प्रारम्भिका

आधुनिक कविता की पृष्ठभूमि पर 'प्रसाद' के कवि का यह निरीक्षण है। उन्होंने अपने अतीत को कितना ग्रहण किया, वर्तमान को कितना प्रभावित किया और भविष्य की एक स्वप्न द्रष्टा की तरह कितनी कल्पना की; इन प्रश्नों का उत्तर इसमें खोजने की नम्र चेष्टा की गई है।

'प्रत्येक कलाकार अतीत का फल और भविष्य का बीज होता है'— यह एक आंग्ल आलोचक का प्रसिद्ध कथन है। 'प्रसाद' इसके अपवाद न थे। उन्होंने अपने 'अतीत' से हिन्दी की प्राचीन काव्य-परम्परा से बहुत कुछ आत्मसात किया। उसी की भूमि पर खड़े होकर उनके कवि का स्वर मुखरित हुआ। ब्रजभाषा काव्य के माधुर्य से उनकी कल्पना के 'पर' सिक्त थे। वर्तमान, 'खड़ी बोली' का संदेश लेकर उनकी ओर निहार रहा था। कवि ने पुरातनवाद का 'चोला' शीघ्र ही फेंक दिया। उससे उन्हें इतनी विरक्ति हो गई कि ८ वर्ष पूर्व ब्रजभाषा में लिखे अपने एक काव्य को उन्होंने दुबारा खड़ी बोली में लिख डाला। पर खड़ी बोली के 'अक्खड़पन' को उन्होंने ग्रहण करने की चेष्टा नहीं की। बँगला और संस्कृत भाषा के अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि उनकी रचनाओं में 'कोमल कांत पदावली' क्रमशः मुसकुराने लगी। 'प्रसाद' की भाषा के इसी गुण ने उन्हें अपने समकालीनों में सबसे आगे खींचकर खड़ा कर दिया। अध्यात्मवाद की भावना हिंदी काव्य-साहित्य में 'आज' की देन नहीं है—'प्रसाद' की भी नहीं। लौकिक-अलौकिकता का चक्र सदा से चलता रहा है।

काल 'अति' का संतुलन करता रहता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास इस तथ्य की साक्षी देता है। बौद्ध सिद्धों और नाथों के सूखे उपदेश-कथन ने निर्गुणवादी संतों में भावना की एक लहर बहाई पर जब वह जनसाधारण की रस-प्यास बुझाने में समर्थ न हो सकी तब

'सगुण भक्तिवाद' लोक-भावना को अपनी ओर खींचने लगा परन्तु सगुणभक्ति के प्रसिद्ध प्रतीक—राधा-कृष्ण—ने इतनी व्यापकता धारण की कि वे धीरे धीरे किसी भी सलोनी स्त्री और सलोने पुरुष में झाँकने लगे। रीतिकाल भक्तिवाद के अतिरेक का ही परिणाम था। रीतिकाल को लौकिकवाद का युग कहना चाहिये। इस युग का काव्य किसी भी 'आलम्बन' में लौकिक विकारों की ही अभिव्यक्ति करता रहा है। आधुनिक युग ने लौकिकवाद-युग के अतिरेक के विरोध में अपनी आँखें खोलीं। प्रारम्भ में उसमें बीती 'रात' की खुमारी का रहना स्वाभाविक था। अतः 'विकार' वे ही रहे पर उन पर अलौकिकता की 'छाया' डालने का अभिनय अवश्य किया गया। (यह मैं नहीं कहता कि आधुनिक काव्य मे आध्यात्मिकता प्रेरणा के रूप में बिलकुल नहीं है। मेरे कहने का आशय इतना ही है कि वह जहाँ है वहाँ इतने कम परिमाण मे है कि उसे युग की व्यापक भावना कहना आत्मप्रवचना होगा।) यह कार्य भावों—विकारों—की अभिव्यंजना-प्रणाली विशेष के द्वारा किया गया, जो 'छायावाद' के नाम से पहचानी जाती है।

जड़वाद के इस संवत् में काव्य के चक्र का रूप सर्वथा 'अलौकिक' होना सम्भव था भी नहीं। यही कारण है कि 'प्रसाद' के कवि में ऐसे रूप बहुत ही कम आये हैं जब वे अपने 'जड़' को भूलकर एकदम 'चेतन' मे खो गये हैं। हाँ, वे जड़ में ही इतने अधिक केन्द्रित हो सके हैं कि उसमे ही उन्होंने 'चेतन' का आरोप कर उसका 'स्वर्गीकरण' (Sublimation) कर दिया है। यही कवि की महत्ता है और इसी से वे इतने लोकप्रिय हो सके हैं।

'आँसू' में 'लौकिक' के 'अलौकिक' सौंदर्य ने 'वर्तमान' को खूब प्रभावित किया। इस छोटे से काव्य का छन्द इतना अधिक प्रचलित हुआ कि स्व० अवध उपाध्याय ने अपने 'नवीन पिंगल' में 'आँसू' की पंक्तियों के छन्द का नामकरण ही 'आँसू-छन्द' कर दिया है। हिन्दी के अधिकांश आधुनिक कवि 'आँसू' के किसी न किसी रूप में आभारी हैं। सन् १९३८ में भारतीय साहित्य-परिषद् के मराठी मुख पत्र 'निरगम' के एक अंक में श्री गि० या० पोरवगकर ने 'आँसू-छन्द'

ही में "आँसू" का मराठी में अनुवाद प्रकाशित कराया है। पाठकों के मनोरंजनार्थ यहाँ दो पद्य दिये जाते हैं:—

इस करुणा कलित हृदय मे क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरो मे वेदना असीम गरजती ?

(हिन्दी)

ह्या करुणा कलित हृदयांत, कां विकल रागिणी वाजे ?
कां हाहाकार स्वरात असीम वेदना गर्जे ?

(मराठी)

बुलबुले सिन्धु के फूटे, नक्षत्र मालिका टूटी।
नभ मुक्त कुन्तला धरणी, दिखलाई देती लूटी॥

(हिन्दी)

बुडबुडे सिन्धु चे फुटले, नक्षत्रमालिका तुटली।
नभ मुक्त कुन्तला जगती, भासते अता लुटलेली॥

(मराठी)

इससे प्रकट होता है कि 'आँसू' ने हिन्दी-जगत को ही नहीं, अहिन्दी भाषाभाषियों को भी 'रस'-सिक्त किया है। हिन्दी के गीति-काव्यों में 'आँसू' को सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। 'प्रसाद' सजग कलाकार थे, वे अपने वातावरण से सकेत ले उसे अपनी भावनाओं से भरने की क्षमता ही न रखते थे, वे भविष्य की चिन्तना को भी पहचान सकते थे। इसी से 'कामायनी' मे कोरी भावुकता हमे नहीं मिलती। विज्ञान-युग का बुद्धिवाद भी जो प्रगतिवाद के निकट है, उसमे तैर रहा है। सामञ्जस्य-प्रवृत्ति होने से उन्होंने प्राचीन और आधुनिक मान्यताओं का सफल एकीकरण किया है।

'प्रसाद' के काव्य में एक कमी है, जो उसका कदाचित् वैशिष्ट्य भी कहा जा सकता है, कि वह अधिकांश में संकेतात्मक होने के कारण Mass appeal (जनसाधारण में प्रविष्ट होने) की क्षमता नहीं रखता। विश्वविद्यालयों से यदि उसकी मान्यता हट जाय तो सभवतः औसत बुद्धि के व्यक्ति उसे विस्मृत करने में ही सुख अनुभव करें। यह कटु कथन है पर निष्ठुर सत्य भी प्रतीत होता है।

पुस्तक लिखते समय यह सजगता रही है कि 'प्रसाद' साहित्य-विद्यार्थियों से दूर न रह पायें। इसीलिए 'आँसू' की दुरूह समझी जानेवाली पंक्तियों की भीतरी भावनाओं को समझने की चेष्टा की गई है क्योंकि 'आँसू' ही ऐसी रचना है जिसमें कवि ने अपने को अधिक से अधिक व्यक्त किया है। यदि कवि को समझने में पाठकों की अभिरुचि को ज़रा भी सचेष्ट करने में यह पुस्तक सहायक हो सकी तो लेखक अपने श्रम को अव्यर्थ समझेगा।

सिटी कालेज, नागपुर
विजयादशमी
सं० २००१ वि०

—विनय मोहन शर्मा

प्रकाशक की ओर से

हिन्दी साहित्य में श्री विनय मोहन शर्मा का जो स्थान है वह सभी जानते हैं। हिंदी कविता तथा कवियों पर उन्होंने जो महत्वपूर्ण समालोचनाएँ की हैं वे विद्वानों में अत्यन्त ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं।

'विशाल भारत' के फरवरी सन् १९४२ के अंक में उनका लिखा हुआ 'प्रसाद के आँसू पर एक दृष्टि' लेख हमने पढ़ा। उसी समय से हृदय में यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि हिन्दी की कविता पर उनके द्वारा लिखी हुई रचना हिन्दी साहित्य के अभिमुख की जाय। अतः हमने अपनी यह इच्छा श्री शर्मा जी पर प्रकट की और उन्होंने हमारी प्रार्थना को स्वीकार किया। अतएव उनकी कृपा स्वरूप यह पुस्तक हम हिंदी संसार को अर्पण कर रहे हैं।

समय की कमी, तथा लेखक एवं प्रकाशक के स्थानों की परस्परिक दूरी के कारण पुस्तक के प्रूफ एकबार भी लेखक की नज़र से नहीं गुजर सके। अतः इसमें अशुद्धियाँ रह गई हैं जिनके लिये हमें अति खेद है। वे दूसरे संस्करण में निकल जायँगी। आशा है पाठक क्षमा करेंगे।

आधुनिक हिन्दी कविता

'प्रसाद' के पूर्व

'आधुनिक' की व्याख्या करते 'हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही लिखा है कि "पत्रा-पंजी मिलाकर 'आधुनिक' की सीमा का निर्णय कौन करे ? यह बात काल से उतना सम्बन्ध नहीं रखती, जितना भाव से रखती है। .. नदी आगे की तरफ सीधी चलते चलते हठात् टेढी होकर मुड़ जाती है। साहित्य भी इसी प्रकार सीधा नहीं चलता। जब वह मुड़ता है तब उस मोड़ को ही 'मॉडर्न' या 'आधुनिक' की सख्या दी जाती हैं।"

हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होता है। आधुनिकता की ओर पहली 'मोड़' के दर्शन उन्हीं के समय से होते हैं। भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी कविता रीतिकालीन युग की आत्मा से उच्छ्वसित हो रही थी।

रीतिकालीन काव्य में मानव शरीर के प्रति रीझ-बूझ प्रबल थी। उसके मानसिक सौन्दर्य के साथ तादात्म्य स्थापित करने की बहुत कम चेष्टा की गई। उसमें व्यक्त विश्व से अदृष्ट सत्ता का आभास अनुभव नहीं किया गया। राधा-कृष्ण की ओट में लौकिक स्त्री-पुरुषों का उद्भ्रान्त शृङ्गार वर्णित किया गया; जैसा कि भिखारीदास की निम्न पक्तियों से स्पष्ट है—

"आगे के कवि रीझि हैं तो कविताई

नतरु राधिका गोविद सुमिरन को बहानो है।"

यदि हम यह कहें कि रीतिकालीन काव्य में वात्स्यायन के काम-सूत्रों की व्याख्या अधिक है, तो अनुचित न होगा।

उसमे मानव प्रकृति की सूक्ष्म भावनाओं पर ध्यान नहीं दिया गया। वाह्य प्रकृति (वन-उपवन, गिरि, सरिता, उषा-संध्या) की भी उपेक्षा की गई। प्रकृति 'आलम्बन' नही, उद्दीपन के रूप में ग्रहण की गई।

रीतिकालीन काव्य में जीवन के विभिन्न व्यापारों के प्रति उदासी-नता पाई जाती है । उसमें एकाङ्गीपन अधिक है ।

भारतेन्दु-काल तक आते-आते रीतिकालीन धारा बेपानी-सी बन गई थी । उसमे प्राचीन कवियों के भावों की पुनरावृत्ति के कारण बासापन आ गया था । अतः भारतेन्दु के समय में नई दिशा की ओर स्वभावतः हिन्दी कविता मुड़ी । उसमें भाषा और विचारों में परिवर्तन दिखाई देने लगा । ब्रज-भाषा के स्थान पर खड़ी बोली की ओर प्रवृत्ति होने लगी । नये नये विषयों का समावेश हुआ । देश की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक समस्याओं का झुँझलाहट भरा आवेग प्रकट होने लगा । इसमें सन्देह नहीं; बँगला और अङ्गरेज़ी साहित्य के अध्ययन ने भी हिन्दी कवियों की दृष्टि में विस्तार भर दिया । अतएव उनमे नायक-नायिकाओं के नख-शिख-वर्णन से पूर्ण शृङ्गारी रचनाओं के प्रति विशेष आसक्ति न रह गई । वे देश में क्रमशः सुलगने वाली जीवन व्यापी चेतना के प्रति तटस्थ न रह सके । अतः उनकी रचनाओं में देश-प्रेम, समाज-सुधार आदि के विचारों ने प्रवेश किया । पर फिर भी मानव के स्थल का आकर्षण लुप्त नहीं हो गया और यह संभव था भी नहीं ।

स्त्री-पुरुष का आकर्षण चिरंतन सत्य है । पर मैं यह मानने को तत्पर नहीं हूं कि इस आकर्षण में लैङ्गिक ज्वार का उठना अनिवार्य ही है । स्नेलवादी भले ही कुछ अमेरिकन स्त्रियों की इस आकांक्षा को विज्ञापित करें कि "हमसे बहुत सी सम्भ्रान्त घराने की स्त्रियों ने कहा कि हम कुछ घंटों को वेश्या बनकर उस जीवन का अनुभव लेने को बेतहाशा ललच उठती हैं" और उनके इस कथन का विश्लेषण बदनाम अनैतिकतावादी मनोवैज्ञानिक ब्रटेलरसेल इन शब्दों में भले ही करे कि "स्त्री-पुरुष स्वभावतः क्रमशः बहु पुरुष-स्त्रीगामी होते हैं । वे कुछ या बहुत काल तक भले ही एक व्यक्ति के प्रेम में बँधे रहें पर एक समय आता है जब उनकी प्रेम की ज्वाला बुझने लगती है और वे अपने में नया उभार लाने के लिए नए साथी की खोज में व्यग्र हो जाते हैं" । जो स्नेल के व्यक्तिगत जीवन

से परिचित हैं, उन्हे उसके इस निष्कर्ष मे—जहाँ तक उसका व्यक्तिगत अनुभव है —अतिरजन नहीं दिखाई देगा। रसेल के स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी सिद्धान्तों को बहु मान्यता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि उनसे समाज की स्थिति मे प्राकृतिक सुधार की आशा नहीं की जाती। स्त्री-पुरुष का देह से ही नही, मन से भी सबल और स्वस्थ होना आवश्यक है। मन की भ्रामरी-वृत्ति अस्वस्थता का चिह्न है। अतः जिस साहित्य में मन के अनियन्त्रित चाचल्य का चित्रण होगा, उसमें कला का सुन्दरम् भले ही हो, पर जीवन का 'शिवम्' कदापि नहीं दिखाई देगा।

अथर्ववेद में एक उच्छिष्ट-सूत्र है। उसमें 'उच्छिष्ट' की बहुत प्रशसा की गई है। 'यगविल्डर' में श्री क्षितिमोहन जी ने उस सूत्र की निम्न शब्दों मे बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—"मनुष्य और जगत् की सारी समृद्धि उच्छिष्ट है। उपभोग के बाद जो कुछ रह जाता है, उसी मे से उसकी उत्पत्ति होती है। जिस वस्तु का हमने उपभोग किया, उसका तो क्षय हुआ और जो अवशेष रह गया उसी में से मानव इतिहास, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, कला, सौन्दर्य और बन्धुत्व आदि तत्वों की उत्पत्ति हुई। भोग-विलास मे तृष्णा का अश अधिक होता है। इसलिए जो कुछ सामग्री मिलती है सबका उपभोग हो जाता है; कुछ अवशेष नहीं रहता। उसमें उच्छिष्ट न रहने से सृष्टि को निर्माण के लिए अवकाश नहीं मिलता। कामोपभोग की तृष्णा तो वध्या स्त्री के समान है। और सृजनहार मे लोभ तृष्णा कुछ भी नहीं। इसलिये वह सतत काल सृष्टि कर सकता है।"

यही कारण है कि परकीया नायिका, शठ नायक-दूती लोला आदि की ऊहात्मक रचनाओं मे काम-विज्ञान की बारीकियाँ भले ही विशद दीख पड़ती हों, पर उनमें जीवन की प्राकृतिक स्थिति का अभाव ही पाया जाता है। उनसे न तो सृजनहार जी पाता है और न उनका आस्वादी।

काव्य में शृङ्गार रस के सम्बन्ध में स्व० प० पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है—"शृङ्गार रस के काव्यों में परकीया आदि का प्रसग कुरुचि का उत्पादक होने से नितान्त निन्दनीय कहा जाता है। यह किसी अश मे ठीक हो

सकता है, पर ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीतिभ्रष्ट और कुरुचि सम्पन्न बनाने से नहीं होता, ऐसे प्रसंग पढ़कर धूर्त, विटों की गूढ़-लीलाओ के दाँव-घात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके, इस विषय में सतर्क रहे। यही ऐसे प्रसंग-वर्णन का प्रयोजन है। काव्यालकार के निर्माता रुद्रट ने भी यही बात दूसरे ढंग से कही है—

"नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्या।
कर्त्तव्य तथान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः।
किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्ग तया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेस्त्र।"

परन्तु शृङ्गारी कविता की उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए जो तर्क स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा ने प्रस्तुत किए हैं, वे किसी भी अनैतिक कृत्य का नैतिक अभिप्राय बन सकते हैं। काव्य मे 'शृङ्गार' के हम विरोधी नहीं हैं पर "यहि पाखैं पतिव्रत ताखैं रखौ"* में हम फिसलन ही पाते हैं, जिसमें कलाकार के लिए अमर सृजन की कुछ भी सामग्री 'उच्छिष्ट' नहीं रह पाती। जो 'वस्तु' उसमें सृजन की प्रेरणा भर सकती है वही जब 'भुक्त' हो जाती है तब उसकी 'कला' का सिन्दूर ही पुछ जाता है—उसकी सिहरन सदा के लिये सो जाती है। भोग-शृङ्गार का वर्जन इसीलिए कल्याणकारी है।

हमारे साहित्य में, वर्षों से 'भोग-शृङ्गार' (जिसमें काम-शास्त्र की ही पद्य-बद्ध विवेचना है) की जो लहर बह रही थी, वह हरिश्चन्द्र-काल में एकदम कैसे रुक सकती थी? हाँ, उसमें एक परिवर्तन अवश्य हुआ कि जहाँ रीतिकालीन कवि 'नारी' के शरीर तक ही अपनी दृष्टि दौड़ा सके, वहाँ भारतेन्दु-काल के कवियों ने उसके अतिरिक्त भी जैसा कि ऊपर कहा गया है, अपने चारों ओर झाँकने का भी प्रयास किया। इसीसे जहाँ भारतेन्दु ने—

"तेरी अँगिया में चोर बसैं गोरी।
छोड़ि दे किन बंद चोलिया पकरैं चोर हम अपनो री।" †

* भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

जैसी रीतिकालीन परम्परा के अनुरूप 'होली' लिखी वहाँ उन्होंने अपने देश की दशा पर चार आँसू भी बहाये—

"सोई भारत भूमि भई सब भाँति दुखारी।
रह्यौ न एकहु वीर सहस्रन कोस मँझारी॥
होत सिंह को नाद जौन भारत बन माहीं।
तहँ अब ससक सियार स्वान खर आदि लखाही॥
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे वर।
तहँ अब रोवत सिवा चहूँ दिसि लखियत खँडहर॥
धन विद्या बल मान वीरता कीरति छाई।
रही जहाँ तित केवल अब दीनता लखाई॥"

आपके समकालीन लेखकों में भी देश की सामयिक अवस्था के प्रति झुकाव पाया जाता है। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है—

"भारत घोर मसान है, तू आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से, डोलत हैं कल्यानी॥
हाड-माँस नर-रक्त है, भूतन की सेवा।
यहाँ कहाँ मा, पाइये, चदन घी मेवा॥"

इसी प्रकार स्व० पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भी अपनी व्यंगात्मक शैली में "सर्वसु लिये जात अँगरेज"—की आवाज बुलन्द की थी। भारतेन्दु के घनिष्ठ मित्र मध्यप्रान्त के स्व० ठा० जगमोहनसिंह ने 'ऋतु-सहार' में 'भारत' की व्रज-भाषा में स्तुति की है। *

इस तरह हम देखते हैं कि इन कवियों ने राधा-कृष्ण की काम-क्रीड़ा की छलकन से कुछ विरक्त हो अपनी स्थिति पर विचार करना प्रारंभ कर दिया था। यहाँ 'विचार' शब्द का प्रयोग मैं साभिप्राय कर रहा हूँ, क्योंकि उस समय कविताओं से विभिन्न-सिद्धान्तों के प्रचार का ही कार्य लिया जाता था। उनमें मानसिक कोमल भावनाओं का उन्मेष बहुत कम था। उनका उद्देश्य सामयिक समस्याओं की ओर जनता का ध्यान खींचना भर था।

---

* भुव मधि जंबू द्वीप दीप सम अति छवि छायो।
तामें भारतखंड मनहुँ विधि आपु बनायो॥

जिस प्रकार भारतेन्दु कालीन कविता नवीन विषयों की ओर झुकी, उसी प्रकार उसकी भाषा में भी ब्रज-भाषा के स्थान पर खड़ी बोली का क्रमशः प्रवेश होने लगा। भारतेन्दु बाबू ने परिमार्जित ब्रज-भाषा में अधिकांश रचनाएँ की हैं। क्योंकि वे उसे ही पद्य के लिए उपयुक्त समझते थे।* फिर भी, वे खड़ी बोली के एकदम विरोधी न थे। कुछ रचनाएँ उन्होंने खड़ी बोली में भी की हैं। आपके समकालीन कवियों ने भी खड़ी बोली को कुछ अंश में अपना लिया था पर उसमे ब्रज-भाषा के चलते शब्दों का भी वे मेल कर दिया करते थे। (भाषा में सुधार का कार्य स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी द्वारा बाद में प्रारम्भ किया गया।)

कुछ समय तक हिन्दी के विद्वानों में "कविता के लिए खड़ी बोली उपयुक्त है अथवा ब्रज-भाषा?" पर वाद-विवाद चलता रहा। एक पक्ष कहता था--"कविता के लिए ब्रज-भाषा ही अपनाई जानी चाहिए, क्योंकि उसमें माधुर्य खड़ी बोली की अपेक्षा बहुत अधिक है। दूसरा पक्ष ब्रज-भाषा को एक प्रान्त की भाषा मानता था और कहता था जब खड़ी बोली का प्रचार देश में बढता जा रहा है, तब कविता क्यों एक प्रान्तीय भाषा में लिखी जाय? तीसरा पक्ष भाषा के झगड़े को मिटाने के लिये यह कहता था कि कविता ब्रज-भाषा और खड़ी-बोली दोनों मे लिखी जा सकती है। अतएव विषय के अनुरूप भाषाओं का

---

* "पश्चिमोत्तर देश के कविता की भाषा ब्रज-भाषा है यह निर्णीत हो चुकी है और प्राचीन काल से लोग इसी भाषा में कविता करते आते हैं परंतु यह कह सकते हैं कि यह नियम अकबर के समय के पूर्व नहीं था क्योंकि मलिकमुहम्मद जायसी और चन्द की कविता विलक्षण ही है और वैसे ही तुलसीदास जी ने भी ब्रज-भाषा का नियम भंग कर दिया। जो हो मैंने स्वयं कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी। इससे यह निश्चय होता है कि ब्रज-भाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रज-भाषा में ही उत्तम होती है।"

—भारत दुर्दशा (हरिश्चन्द्र)

प्रयोग किया जाना चाहिए। इसीलिए हम देखते हैं कि भारतेन्दु बाबू के समय और उनके कुछ समय बाद भी हिन्दी के कवि दोनों भाषाओं मे कविता किया करते थे। अतएव स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के सरस्वती का सम्पादन-भार ग्रहण करने के पूर्व तक कोई कवि केवल खडी बोली में ही रचना करने के लिए प्रसिद्ध नहीं हुआ। द्विवेदीजी ने ही खड़ी बोली को हिन्दी-कविता का वाहन बनाया। 'वड्‌स्वर्थ' के समान उनका भी मत था कि बोलचाल की भाषा में गद्य ही नहीं पद्य भी लिखा जा सकता है और लिखा जाना चाहिए * 'वड्‌स्वर्थ' का यह स्वप्न सत्य न हो सका पर द्विवेदीजी के लिए वह सत्य ही सिद्ध हुआ।

इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

"गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए।" आपने 'कविता-कलाप' की भूमिका में जो २ फरवरी १६०६ में लिखी गई थी यह भविष्यवाणी भी की थी कि 'इस पुस्तक की अधिकाश कविताएँ बोलचाल की भाषा मे हैं। ..इस तरह की भाषा . में लिखी गई कविता दिन पर दिन लोगों को अधिकाधिक पसन्द आने लगी है। अतएव बहुत सम्भव है, कि किसी समय हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा एक हो जाय।"

द्विवेदी-काल—(यह लगभग सन् १६०४ से १६२० तक माना जा सकता है) में देश मे राष्ट्रीयता और देश की एकता की भावना लहराने लगी थी। और हिन्दी अपनी सरलता के कारण स्वय राष्ट्र-भाषा बनती जा रही थी। तब द्विवेदीजी के समान भविष्य द्रष्टा ने यह अनुभव किया कि जब गद्य की भाषा खड़ी बोली हो रही है, तब पद्य की भाषा एक प्रान्त की उपभाषा (ब्रज-भाषा) नहीं रह सकती। देश के अन्य

---

* "It may be safely affirmed that there is neither is nor can be any difference between the language of prose and metrical composition "
Words Worth.

प्रान्तवासियों तक अपने साहित्य को पहुँचाने के लिए हमें खड़ी बोली ही में अपने गद्य-पद्य दोनों को पल्लवित करना होगा।

... तो भारतेन्दु-युग मे कविता में नये विषय और नयी भाषा की ओर कवियों का ध्यान गया अवश्य, पर उसकी अभिव्यञ्जना-प्रणाली में—ढाँचे मे—कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। वही पुराने छन्द (कवित्त सवैया आदि) वही टकसाली अलङ्कार ! रचनाएँ रूढ़ि-शृङ्खला से जकड़ी हुई दीखती हैं। कभी-कभी विरहा, गज़ल, रेख़ता और कजली छन्दों में भी कविताएँ मिलती हैं। पर इन छन्दों की ओर प्रवृत्ति उन्हीं कवियों की पाई जाती है जो उर्दू-फ़ारसी से विशेष परिचित थे। मुक्तक * रचनाएँ ही इस काल में मुख्यतयः लिखी गईं। पर विषय में 'आश्रय' की अन्तर्वृत्ति की छाया न रहने से वे विशेष रसवती न बन सकीं। फलतः उनमें स्थायित्व न आ सका।

भारतेन्दु के पश्चात् स्व० आचार्य प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के 'सरस्वती' का सम्पादन-भार ग्रहण करने पर हिन्दी-साहित्य उन्हीं को केन्द्र बनाकर गति शील हुआ। हिन्दी साहित्य पर क्रमशः उनका प्रभाव फैल गया। लगभग सन् १६०४ से सन् १६२० तक उन्हीं की साहित्यिक मान्यताओं और विश्वासों को अधिकाश हिन्दी साहित्य-कारों ने अपनाने की चेष्टा की। आधुनिकता की दूसरी मोड़ के दर्शन

---

* मुक्तक—उसे कहते हैं जो 'मुक्त' है—स्वतंत्र है, जिसका सम्बन्ध पिछले पद्यों से नहीं है और न जो आनेवाले पद्यों की भूमिका है। जिस अकेले पद्य ही में विभाव-अनुभाव आदि से परिपुष्ट इतना रस भरा हुआ हो कि उसके स्वाद से श्रोता या पाठक तृप्त हो जायँ, सहृदयता की प्यास बुझाने को उसे अगली-पिछली कथा का सहारा न लेना पड़े, वह 'मुक्तक' कहलाता है। हिन्दी में 'मुक्तक' को ही 'फुटकर कविता' कहते हैं।' 'मुक्तक' मे कवि को 'गागर' में 'सागर' भरना पड़ता है। इसीलिए ऐसे काव्य में सौन्दर्य भरने के लिए कवि को शब्दों की अभिधा शक्ति से कम, ध्वनि-व्यञ्जना से अधिक काम लेना पड़ता है। बिहारी के 'दोहे' मुक्तक का अच्छा उदाहरण कहे जाते हैं।

यहीं से होते हैं। अतएव काव्य सम्बन्धी उनकी धारणाओं को जान लेना आवश्यक है। आप लिखते हैं—

"अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नही समाते, तब वे आप-ही-आप मुख के मार्ग से (क़लम को राह भी उनके लिए रुँधी हुई नही है। लेखक) बाहर निकलने लगते हैं, अर्थात् वे मनोभाव शब्दों का स्वरूप धारण करते हैं। यही कविता है।" .. "आज कल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य मे वही भेद है जो अग्रेजी की 'पोइट्री' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं, वह नपी तुली शब्द-स्थापना मात्र है।"

आचार्य चूँकि मराठी पद्य-साहित्य से भली-भाँति परिचित थे अतः हिन्दी कविता में भी मराठी भाषा सी गद्यात्मकता वे ले आए। पर इसमे भी सन्देह नहीं कि कविता की व्यापक व्याख्या द्वारा उन्होंने आधुनिक कविता की कई नई प्रवृत्तियों का द्वार खोल दिया। उसके विषय, उसकी भाषा, उसकी अभिव्यञ्जना प्रणाली आदि में हमे हरिश्चन्द्र-काल से अधिक विस्तार और अधिक आधुनिकता दिखलाई देती है। यह बात दूसरी है कि उनकी व्याख्या के अनुसार उनके काल की कविता अपने को सँवार न सकी।

कविता के विषय के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी जी लिखते हैं—

"चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पथ-भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त। जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरजन हो सकता है फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़कर कोई-कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता की चरम सीमा समझते हैं! केवल अविचार और अन्ध-परम्परा।" विषयों की

व्यापकता बढ़ाने पर भी द्विवेदी काल में 'स्त्रियों की चेष्टाओं' के वर्णन की 'इति' नहीं हो गई। स्वय आचार्य द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित 'कविता-कलाप' में सग्रहीत ४६ कविताओं में से लगभग ३६ कविताएँ 'स्त्री' सम्बन्धिनी हैं। आचार्य स्वयं स्त्रियों की चेष्टाओं के वर्णन से अपनी लेखनी को दूर नहीं रख सके। 'प्रियवदा' के विषय में उनकी निम्न पंक्तियाँ पढ़िये—

"यह है प्रियंवदा पति प्यारी।
कुल कामिनी पारसी-नारी।
इसको रुचिर रेशमी सारी।
तन की द्युति दूनी विस्तारी।
× × ×
पुरुषों में भी जाना इसने।
मद मंद मुसकाना इसने।
सुधा-सलिल बरसाना इसने।
ज़रा नहीं शरमाना इसने।
कचकलाप बिखराये कैसे?
सम्मुख सुघर बनाये कैसे?
दर्शक दृग यदि उन पर जाते।
फिर वे नहीं लौटने पाते।"

द्विवेदी-युग के अन्य कवियों ने भी नारी के शरीर-वर्णन का लोभ संवरण नहीं किया। 'शकर' (स्व० पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा) की सुप्रसिद्ध रचना 'वसंत-सेना' में पढ़िए—

उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं तो,
काम के भी दोनों दो कमानें नाक तानी है।
'शङ्कर' कि भारती के भावने भवन पर,
मोह महाराज की पताका फहरानी है।
किया कट नागिनों की साँवली सँपेलियों ने,
न्यारे विधु-बिम्ब पे विलास विधि ठानी है।

काटती हैं कामियों को काटती रहेंगी कहो,
भृकुटी कटारियो का कैसा कडा पानी है।"*

विषयों से 'नारी' का लोप न हो जाने पर भी शृङ्गार के उच्छृङ्खल रूप को आलोच्य काल मे प्रोत्साहन नहीं मिला। इसी से इसको "आदर्शवादी युग" (Puritanage) कहा जाता है।

यह इतिवृत्तात्मक काव्य का युग रहा है। इसमें कवियों की दृष्टि 'वस्तु' के बाह्य अङ्ग पर जाकर ही झुक गई। वह उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित न कर सकी।

देश में वग-भग के कारण स्वदेशी आन्दोलन के बवडर ने 'वग-भूमि' को ही नहीं भर दिया, समस्त देश उससे हिल उठा। पूना से लोकमान्य तिलक 'केसरी' द्वारा 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध-अधिकार' की हुङ्कार मचा रहे थे। जनता की सुप्तप्राय राजनीतिक चेतना जागने के लिए आँखें मलने लगी थी। धार्मिक-क्षेत्र मे आर्य-समाज ने हिन्दू-समाज के रूढिवाद को ठोकरें मारना और 'हिन्दू-हिन्दी और हिन्दुस्तान' के प्रति पक्षपात तथा प्रेम भरने का उपक्रम किया।† इसी से द्विवेदी-युग की रचनाओं मे जहाँ राष्ट्रीयता-जातीयता के स्वर निकलने लगे, वहाँ धार्मिक-सामाजिक प्रश्नों को बौद्धिक दृष्टि से देखने का उपदेश भी सुनाई देने लगा।

इस काल के कवियों ने पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानों को भी अपनाने की चेष्टा की जिससे खडकाव्य और महाकाव्य भी रचे जाने लगे।

भाषा के सम्बन्ध में पहिले लिखा ही जा चुका है कि ब्रज-भाषा का स्थान खड़ी बोली ने ले लिया। पर जैसा कि स्वाभाविक था खड़ी बोली की रचनाओं में भी इन दोनों भाषाओं का सङ्कर हो जाया करता था। पर प्रयत्न यही होता था कि भाषा विशुद्ध खड़ी बोली ही रहे। यह वास्तव में भाषा-परिष्कार का ही युग था। 'पाठक',

---

* आचार्य द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित 'कविता कलाप' से।

† बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' में इन्हीं भावनाओं का प्रचार पाया जाता है।

'हरिऔध' और 'प्रसाद' ('प्रसाद' द्विवेदी-मंडल से पृथक ही अपनी काव्य-साधना में तत्पर थे) प्रारंभ में ब्रज-भाषा में कविता करते थे। पर समय की लहर ने उन्हें स्पर्श किया और वे 'खड़ी बोली' के साथ बद्धपरिकर हो गए। "साँकरी गली में माय काँकरी गड़तु है" की ध्वनि का मोह छोड़कर 'खड़ी बोली' में वे गाने लगे।

द्विवेदी-काल ही में खड़ी बोली की रचनाओं में माधुर्य आने लगा था। बँगला, अँग्रेजी और संस्कृत साहित्य के अध्ययन-मनन से काव्य मे प्राचीन और अर्वाचीन भावों का समावेश होने लगा था, और शब्द-भाण्डार में भी नए-नए शब्द और मुहावरों की वृद्धि होने लगी थी।

इसी युग में काव्य की अभिव्यक्ति के रूप में भी रूढ़ि के प्रति विद्रोह के चिह्न दिखलाई देने लगे थे। संस्कृत-वृत्तों—विशेषकर वर्ण-वृत्तों का प्रयोग होने लगा था। हरिऔधजी की रचनाओं में यह रूप स्पष्ट लक्षित होता था।

पर द्विवेदी-युग का काव्य रूखी नैतिकता और 'इतिवृत्तात्मकता' के लिए ही प्रसिद्ध है। उसमें रीतिकालीन युग की 'रसिकता' के प्रति 'प्रतिवर्तन' स्वभावतः पाया जाता है।

'प्रसाद' का प्रादुर्भाव

स्व० आचार्य प० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में अव-तीर्ण होते ही 'प्रसाद' के कवि का जन्म हो जाता है पर जिस वात्सल्य रस की वर्षा आचार्य ने बाबू मैथिलीशरण गुप्त तथा अन्य कवियों पर की, उसकी एक फुहार भी 'प्रसाद' तक न पहुँच सकी। अतः उनका विकास किसी का आश्रय लेकर नहीं हुआ—वे स्वयं ही अङ्कुरित हुए, पल्लवित हुए, फूले और महके।

सन् १९०९–१९१० से उनकी कविता का काल प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ उन्होंने 'ब्रजभाषा' से ही किया क्योंकि उस समय यद्यपि 'खड़ी बोली' की ध्वनि गूँज उठी थी, पर वह गद्य के लिए ही अधिक उपयुक्त समझी जाती थी—पद्य में 'ब्रजभाषा' का ही सम्मान जारी

था। उनकी प्रथम प्रकाशित कृति 'चित्राधार' में 'ब्रजभाषा' का ही रस लहरा रहा है। पर ब्रजभाषा का मोह 'प्रसाद' को अधिक काल तक आच्छादित न रख सका—एक-दो वर्ष बाद ही खड़ी बोली का स्वर उनकी कविता में मुखरित हुआ—ब्रज की केवल स्मृति—मिठास-लेकर। भावनाओं को 'रूप' दे, उन्हें नए-नए 'साँचों' में ढालने की कला का प्रादुर्भाव 'प्रसाद' से ही होता है।*

'प्रसाद' चूकि आधुनिक हिन्दी-कविता में रहस्यवाद—छायावाद की भावनाओं को प्रतिष्ठित करनेवाले माने जाते हैं, इसलिए हम रहस्यवाद-छायावाद पर प्रथम विवेचन कर 'प्रसाद' के काव्य की परीक्षा करेंगे। 'प्रसाद' से ही आधुनिक हिन्दी काव्य की तीसरी 'मोड़' खिंच जाती है।

रहस्यवाद-छायावाद और 'प्रसाद'—

'रहस्य' का अर्थ है गुप्त–प्रच्छन्न,–अव्यक्त। और जिसमें गुप्त, प्रच्छन्न और अव्यक्त का उल्लेख है, वही 'रहस्यवाद' है। सावरण को निरावरण करने की प्रवृत्ति मनुष्य-मात्र मे प्रारम्भिक काल से रही है। 'दर्शन' की उत्पत्ति इसी जिज्ञासा का परिणाम है। उपनिषदों में उसी 'प्रच्छन्न' को देखने का कुतूहल है। रूप जगत क्या है?—मै (आत्मा) क्या हूँ? 'आत्मा' और 'जगत' का सम्बन्ध क्या है? 'जगत्' किसकी सृष्टि है? वह (सः) कौन है? 'सः', 'जगत' और 'आत्मा' के बीच क्या कोई 'शृङ्खला' है? ये प्रश्न हैं जो 'दर्शनों' मे अनेक तर्क वितर्कमय उत्तरों के पश्चात् भी प्रश्न ही बने हुए हैं। उनका निष्कर्ष है; वह, (सः) अनुभव किया जा सकता है—

---

* "प्रसादजी हिन्दी में अतुकान्त कविता के प्रारम्भकर्ता हैं। निस्सन्देह हिन्दी मे गणवृत्तो मे उनके लिखने के बहुत पहिले भी अमित्राक्षर कविता लिखी गई है किन्तु मात्रिक वृत्तो मे उसका प्रयोग तथा भावो और वाक्यो की - चरणो के बन्धन मे न पडकर—स्वतंत्र गति, प्रारम्भ और अवसान,—प्रसादजी की ही सृष्टि है।"

(कल्याणलय का वक्तव्य)

उसका वर्णन नहीं हो सकता। ईसाई दार्शनिक कहते हैं, "प्रेमिका के उछ्वास भरे वक्षस्थल का जैसे कोई उन्मत्त प्रेमी आलिङ्गन करता है और उसमें जो मीठा-मीठा कुछ भीतर ही भीतर घुरने लगता है—कुछ ऐसा ही 'उसके' सान्निध्य का अनुभव होता है"। बौद्ध इस प्रश्न पर मौन धारण कर लेता है, वेदान्ती 'नेति-नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कह कर रुक जाता है, सूफी एक उर्दू कवि के शब्दों में उसको प्रत्येक स्थल पर अनुभव करता है :—

"जाहिद ! शराब पीने दे मसजिद में बैठकर।
या वह जगह बता कि जहाँ पर ख़ुदा न हो।"

वह अपनी सत्ता को उसी में खो देता है।*

सूफी कवि रूमी ने सूफी ध्येय को एक उदाहरण द्वारा बड़ी सुन्दरता से समझाया है—

"किसी ने प्रियतम के द्वार को खटखटाया। भीतर से एक आवाज ने पूछा—"तू कौन है?" उसने कहा—"मैं।" आवाज ने कहा—"इस घर में···'मैं और तू' दो नहीं समा सकते।" दरवाज़ा नहीं खुला। व्यथित प्रेमी वन में तप करने चला गया। साल भर कठिनाइयाँ सहकर वह लौटा और उसने फिर दरवाजा खटखटाया। उससे फिर प्रश्न हुआ—"तू कौन है?" प्रेमी ने उत्तर दिया—"तू" दरवाज़ा खुल गया। †

'अद्वैतवादी' भी उसको अपने ही में देखता है। इसी से वह कहता है—"सोऽहम्"—'मैं ही वह हूँ।' वह आत्मा में ही परमात्मा को अधिष्ठित देखता है और जगत को 'मिथ्या' समझता है। उसका

---

*"Sufi strives to lose humanity in duty Self annihilation is his watch word."

† सूफी कवि मलिकमुहम्मद जायसी ने भी कहा है—

"हौं हौं कहत सबै मत खोई।
जौ तू नाहि आहि सब कोइ।"

—पद्मावत

विश्वास है कि आत्मा पर माया का आवरण पड़ा * रहने से हम 'उसके' दर्शन नहीं कर पाते। आवरण को विदीर्ण कर ही हम पर उसकी आभा का प्रकाश पड़ता है और हम उसे अपने मे अनुभव करने लगते हैं।

सूफी और अद्वैतवादी (निर्गुणवादी) दोनों ही जगत को मिथ्या मानते हैं, परन्तु सूफी जगत के 'रूप' मे परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। उसे वह परमात्मा के विरह मे व्याकुल देखता है इसी से परमात्मा तक पहुँचने के लिए वह भौतिक वस्तु के प्रति आशक्ति धारण कर प्रेम-विभोर हो जाता है। उसका साधन प्रेम है, और साध्य भी प्रेम।

द्वैतवादी (सगुणोपासक) आत्मा (जीव) को ब्रह्म से पृथक मानता है। वह अद्वैतवादी की तरह दोनों को एक नहीं मानता। वह सायुज्य मुक्ति की कामना भी नहीं करता। अपने आराध्य को अपलक आँखों से देखते रहने और उसका सान्निध्य शाश्वत बनाये रखने में ही अपने को कृतकृत्य मानता है। † उसे अपना 'आराध्य' ही सब कुछ है और उसके बिना 'सब'-कुछ नही। वह धार्मिक ग्रन्थों में रजित स्वर्ग की कामना भी नहीं करता।

---

* 'संसार अपनी ही कल्पना है, जैसी कल्पना होगी वैसा ही वह बनेगा। यही चिरन्तन रहस्य है।'—

मैत्रेयी उपनिषद्

"यह संसार जिस वस्तु का बना हुआ है वह मानसिक वस्तु ही है। हमारा परिचित ससार मन की सृष्टि है। बाह्य, भौतिक संसार सब छाया मात्र रह गया है। संसार सम्बन्धी भ्रम के निवारण के लिये हमने जो प्रयास किए उनके परिणाम स्वरूप संसार का ही निवारण हो गया क्योकि हमने देख लिया कि सबसे बडी भ्रम की वस्तु स्वयं संसार ही है।"

'—एडिंग्टन और जीन्स।

† "कहा करौं बैकुंठ लै, कलप बृच्छ की छाँह।
'अहमद' ढाँक सराहिये, जो प्रीतम गल बाँह॥"

—अहमद

कुमारी अंडरहिल अपनी 'Essentials of Mysticism' में लिखती हैं—'We cannot honestly say that there is any wide difference between Brahmin, Sufi and Christian.'

अब प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न 'दर्शनों' का इस रहस्य को खोजने का उद्देश्य क्या है? उसे जानकर उन्हें क्या प्राप्त होता है? इसका उत्तर केवल एक शब्द में दिया जा सकता है। और वह है—'आनन्द'।*

सांसारिक संघर्षों से हटकर मनुष्य ऐसी स्थिति† में पहुँचना चाहता है, जहाँ केवल 'आनन्द' की ही वर्षा होती है। जीवन के विविध ताप (दुख) पिघलकर बह जाते हैं। उपनिषद्‌कार कहते हैं—

"आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन। जायन्ति जीवन्ति आनन्दम्प्रयान्त्यभि विशन्ति।"

"यह सृष्टि आनन्द से ही उत्पन्न हुई है। आनन्द की ओर ही इसकी गति है और आनन्द में ही स्थिति।"

'दर्शन' की 'रहस्य'-भावना को 'काव्य' में किस रूप में अपनाया गया है, इसे हमें समझ लेना चाहिए और यही समझकर हमें चलना चाहिए कि 'दर्शन' (Philosophy) काव्य नहीं है और यह भी कि काव्य में दार्शनिक भाव-व्यञ्जना होने पर भी वह (काव्य) 'दर्शन' नहीं बन जाता।

'दर्शन', तर्क और ज्ञान से 'रहस्य' को समझने का आग्रह करता है, काव्य 'उसे' अपने में आच्छादित कर लेने की व्याकुलता प्रकट

---

* "को जानै को जैहै जमपुर को, सुर पुर पर धाम को।
तुलसिहिं बहुत भलो लागत जगजीवन रामगुलाम को।"
—तुलसी (विनय पत्रिका)

† रहस्यवाद भी एक मानसिक स्थिति ही है। स्पर्जियन ने अपने एक ग्रंथ में लिखा है—"Mysticism is in truth a temper, rather than a doctrine, an atmosphere, rather than a system of philosophy."

करता है। दर्शन 'चिन्तन' है—विचार है; कविता अनुभूति है, भाव है। 'दर्शन' 'उसे' दूर रख कर खुली आँखों से देखने की चेष्टा करता है, काव्य 'उसे' अपने ही में उतार कर निमीलित नेत्रों से उसका दर्शन करता है। जहाँ 'रहस्य' के प्रति हमारा 'राग' जाग उठता है, हम 'उसकी' ओर अपने को भूलकर खिचने लगते हैं; वही 'काव्य' की भूमिका प्रस्तुत हो जाती है। 'रहस्य' की ओर खिचाव-आकर्षण ही रहस्यवादी काव्य को जन्म देता है। 'रहस्य' जैसा कि अभी तक के विवेचन से स्पष्ट है, उस 'परोक्ष' सत्ता को कहते हैं, जो हमारी पार्थिव आँखों के ओझल हैं, परे हैं। उसी को अनुभव करने, पहचानने की ललक-चाह—रहस्यवादी काव्य मे दीख पड़ती है। अपनी प्रवृत्ति और विश्वास-भावना के अनुसार एक रहस्यवादी जगत् मे परोक्ष सत्ता का आभास पाकर उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर हर्ष-पुलक से भर जाता है, दूसरे जगत् को असत्य मान उससे विरक्त हो अपने भीतर ही उस सत्य के दर्शन कर आत्म-विभोर हो जाता है।* इस प्रकार के द्रष्टा को आत्मवादी-या व्यक्तिवादी भी कह सकते हैं, तीसरा किसी व्यक्ति ही को 'उसका' प्रतीक मान उसमे अपनी भावनाओं को केन्द्रित कर उसी का सान्निध्य चाहता है।

इस प्रकार रहस्यवादी अपनी आत्मा के चेतन को झाँकने के लिए उन्मुख होता है, स्थूल प्रकृति मे समष्टि रूप से चेतनता का आरोप कर उससे अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है और उसे अपना ही अश अनुभव करने लगता है। और वह व्यष्टि ही में परोक्ष चेतन का आरोप कर भी आत्मविस्मृत हो जाता है। प्रत्येक रहस्यवादी के लिए आकर्षण के आधार का एक होना आवश्यक नहीं पर उस आधार में उस रहस्यमयी परोक्ष सत्ता की अनुभूति मे सबका एक होना निश्चय ही आवश्यक है।

---

* "गगन मडल के बीच मे, जहाँ सोहगम डोरि।
सबद अनाहद होत है, सुरत लगी तहँ मोरि॥"
कबीर

जो प्रकृति के किसी सीमित स्थूल सौन्दर्य पर ही अपनी राग-रंजित आँखें बिछा देते हैं वे मधुरतम श्रेष्ठ कवि हो सकते हैं, पर 'रहस्यवादी' कवि नहीं।

'वर्तमान हिन्दी कविता' में 'रहस्यवाद' की संज्ञा 'प्रसाद' जी के शब्दों में है—"अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा अहं (आत्मा) का इदम् (जगत्) से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है।"

इस तरह के रहस्यवाद को सूफ़ी भावना के अन्तर्गत ले सकते हैं, जिसमें 'ससीम' में 'असीम' का आरोप किया जाता है। विरह-वेदना सूफ़ी-काव्य की आत्मा है।

अपनी भावनाओं को स्थूल (सीमा) पर आधारित कर भी यदि किसी रचना में कवि का लक्ष्य 'परोक्ष' के प्रति नहीं है, तो हम उसे 'रहस्यवादी' काव्य नहीं कहेंगे। अब प्रश्न उठता है—क्या रहस्यवादी काव्य का आलम्बन सीधा 'परोक्षसत्ता' हो सकता है? इस सम्बन्ध में स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल का मन्तव्य विचारणीय है—"हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाष जो कुछ प्रकट किया जायगा वह व्यक्ति और गोचर ही के प्रति होगा। प्रतिबिंबवाद, कल्पनावाद आदि वादों का सहारा लेकर इन भावों को अव्यक्त और अगोचर के प्रति कहना और अपने काल्पनिक रूप-विधान को ब्रह्म या पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति बताना, काव्य-क्षेत्र में एक अनावश्यक आडम्बर खड़ा करना है।" आचार्य, हृदय के राग का 'अव्यक्त' आलम्बन स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं—"उपासना जब होगी तब 'व्यक्त' और 'सगुण' की ही होगी; 'अव्यक्त' और 'निर्गुण' की नहीं। 'ईश्वर' शब्द ही सगुण और विशेष का द्योतक है, निर्गुण और निर्विशेष का नहीं।"

ऊपर हमने निर्गुण, सूफ़ी और सगुण रहस्यवादियों की चर्चा की है। इन तीन वादियों में व्यावहारिक दृष्टि से सूफ़ी और सगुणवादियों में अन्तर नहीं है। दोनों अपने हृदय के राग को 'व्यक्त' पर ही

आधारित करते हैं। अब रह गए निर्गुणवादी-अद्वैतवादी। वे भी अपनी हृदय-भावना को एकदम अव्यक्त पर नहीं जमाते। उन्हें लौकिक प्रतीक ढूँढ़ने ही पड़ते हैं। कबीर कहते हैं—

"हरि मेरो पिउ (प्रिय) हम हरि की बहुरिया।"

अनुभूति का व्यक्त करने के लिए आत्मवादी को भी अपने से बाहर देखना पड़ता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि काव्य मे रहस्य-भावना सर्वथा अदृष्टावलम्बित नहीं रहती। अभिव्यक्ति के लिये उसे 'व्यक्त' का आधार ग्रहण करना पड़ता है, जो प्रतीकात्मक हो सकता है। रहस्यवादी रचना को पहचानने के लिये हमे कवि की मूल भावना की तह मे जाना आवश्यक होता है। केवल अनन्त, अन्तरिक्ष, क्षितिज, असीम आदि शब्दों को देखकर ही उसे रहस्यावलम्बी नहीं मान लेना चाहिये। कभी कभी मनुष्य 'इस अवनी' के 'कोलाहल' से ऊब कर भी मन की ऐसी अवस्था चाहता है, जो सांसारिक सुख-दुखों से परे हो जाय। 'प्रसाद' ने "ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक! धीरे-धीरे।" (लहर) मे ऐसी ही कामना की है। उन्होंने ऐसे लोक में जाना चाहा है जहाँ एकात हो और कानों मे निश्छल प्रेम का सगीत झरता हो, जिसमे विभोर हो, जीवन अपनी सासारिक क्लाति को खो सके। इस मायामय चचल विश्व मे 'उसी' का ऐश्वर्य व्यापक रूप से छाया हुआ दीख पड़े, जिससे सुख-दुख दोनो समान समझ पड़े—दोनों ही 'सत्य' जान पड़े। हम दोनो से समान सुख अनुभव कर सकें। ऐसे लोक में श्रम और विश्राम मे विरोध न हो, वहाँ किसी का जीवन केवल 'श्रम-ही-श्रम' न हो और न कोई केवल 'विश्राम' ही का सुख लूटता हो। और वह लोक ऐसा हो जहाँ जागृति ही का सतत प्रकाश फैलता रहता हो।

इस रचना मे हमे कवि की अदृष्ट लोक की (चाहे वह मानसिक ही हो) कल्पना मिलती है। हम ऐसा कहीं सकेत नहीं पाते कि कवि को वह 'लोक' मिल गया है—वह अपनी 'साधना' से वहाँ पहुँच गया है। परंतु 'लहर' में प्रकाशित 'उस दिन जब जीवन के पथ में' शीर्षक

रचना से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने अन्तर्मुख होकर वह रहस्य जान लिया है। जब साधक अपने ही में अनन्त रस का सागर लहराता हुआ अनुभव करता है और तब वह मधु-भिक्षा की रटन अधर में लेकर घर-घर भटकने की आवश्यकता नहीं समझता। पर कवि की यह भावना अपने ही अन्तर के रस में भीगे रहने की प्रवृत्ति क्या स्थायित्व लाभ कर सकी है? यदि कोई 'सत्य' किसी को मिल जाता है और उस पर उसकी आस्था जम जाती है तो वह फिर उसी में अपने को केन्द्रित कर उसी की तान भरता है—उसी को प्रतिध्वनित करता है। परन्तु हम देखते हैं, 'प्रसाद' के मन में आत्म-सत्य की एक क्षणिक लहर ही उठी थी, वह फैलकर 'सागर' नहीं बन सकी। अन्यथा चारों ओर 'मधु-मंगल की वर्षा' की अनुभूति ही उन्हें विकम्पित करती रहती। 'विषाद' उनके जीवन को आच्छादित न कर सकता।

अतएव रचना की केवल आकृति (Form) को देखकर ही उसकी 'वस्तु' की आध्यात्मिक प्रेरणा की कल्पना न कर लेनी चाहिए। हमें देखना चाहिए कि काव्य का रूप (आकृति) कवि के आन्तरिक जीवन से स्पन्दन ग्रहण कर रहा है या केवल बुद्धि का विलास है? आधुनिक रहस्यवादी रचनाओं में 'बुद्धि का विलास' (Intellectual exercise) ही अधिक पाया जाता है। उनमें 'क्रोसे' के मतानुसार 'आकृति' (Form) को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योंकि उससे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है और यह निश्चय ही बाह्य-सौन्दर्य है। प्राचीन रहस्यवादियों ने आकृति पर ध्यान नहीं दिया, उन्होंने 'वस्तु' को—'तथ्य' को—'भावसत्य' को—ही प्रधानता दी, क्योंकि वे तो उस 'सत्य' को अपनी 'वाणी' से नीचे 'प्राणों' में उतार चुके थे। अतः 'अटपटे शब्दों में' भी उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति सहज मधुर हो सकी और हमें हिला सकी।

यहाँ यह आग्रह नहीं है कि रहस्यभावना सच्चे साधु-सन्तों के हृदय में ही तरंगित हो सकती है, पर यह ठीक है कि उसका स्थायित्व उन्हीं में रह सकता है, जिनकी वृत्तियाँ सचमुच उसी भावना में रँग चुकी हैं। यों, प्रायः मनुष्य के हृदय में—चाहे उसका जीवन किसी भी नैतिक

धरातल पर स्थित हो—ऐसे क्षण कभी अवश्य आते हैं, जब वह अन्तर्मुख हो किसी अदृष्ट सत्ता के प्रति आसक्ति सी अनुभव करता है। ऐसे व्यक्ति यदि कलाकार या कवि होते हैं, तो अपनी इस अनुभूति को व्यक्त कर देते हैं पर चूँकि उनकी अनुभूति क्षणिक होती है इसलिए उनकी अभिव्यक्ति भी अधूरी और धुँधली होती हैं। 'प्रसाद' मे ऐसी अनुभूति की कभी-कभी लहर सी उठती दीख पड़ती है—पर जब उस अनुभूति की केवल कामना भर उनके मन मे होती है, तब हमे उस कामना को ही रहस्य भावना नहीं समझ लेनी चाहिये।

रहस्यवाद की चर्चा के साथ छायावाद का भी प्रायः उल्लेख किया जाता है। परन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो छायावाद कोई 'वाद' नही बन सकता। उसके पीछे कोई दार्शनिक या परम्पराजन्य भूमि नहीं दिखाई देती। उसे हम काव्य की एक शैली कह सकते हैं।

छायावाद को हम काव्य की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति कह सकते हैं। उसमें 'जीवात्मा की दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपने शात और निश्छल सम्बन्ध की चेष्टा' मात्र ही नहीं पाई जाती; स्थूल सौन्दर्य के प्रति मानसिक आकर्षण के उच्छ्वास भी अङ्कित देखे जा सकते है। इस तरह छायावाद के लिए अलौकिक सत्ता के प्रकाशन की आवश्यकता नहीं है। उसमे व्यष्टि की किसी अभावजनित अन्तर्व्यथा भी झलक सकती है और बाह्य प्रकृति के प्रति आसक्ति भी।

द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) रचनाओं की रूक्षता की प्रतिकृति के रूप मे जब आभ्यन्तर भावों का विशेष ढँग से प्रकटीकरण होने लगा, तब उसमें नवीनता देख उसे 'छायावाद' की सज्ञा दी गई। उसमें शब्द-योजना और छन्द-विन्यास मे रीतिकाल के काव्य की अपेक्षा निश्चय ही वैचित्र्य पाया जाने लगा। 'छायावाद' की रचनाओं में 'भावों की नवीनता' की अपेक्षा, भावों को व्यक्त करने की कला मे नवीनता अवश्य थी। और कवि की दृष्टि भी 'बाह्य जगत्' से हटकर अपने 'भीतर' ही रमने लगी—और जब वह अन्तर्मुखी हुई, तो उसने बाह्य जगत् को भी

अपने ही में प्रतिबिम्बित कर लिया। यदि एक वाक्य में कहें तो कह सकते हैं कि वे सब रचनाएँ जो अन्तर्वृत्ति निरूपक हैं, 'छायावाद' के अन्तर्गत आ जाती हैं।[1] अतः रहस्यवादी रचनाएँ भी, जो अन्तर्वृत्ति निरूपक ही होती हैं, 'छायावाद' शैली की कृतियाँ कहला सकती हैं। उसमें निराली अभिव्यक्ति का लावण्य दिखाई देता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मानव अनुभूति को 'छायावाद' कहलाने के लिए 'स्वच्छन्द छन्द' में ही चित्रित होना चाहिए। हाँ, निरालापन लाने के लिए शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता छायावाद का विशिष्ट गुण अवश्य है। इसलिए 'छायावाद' की रचना में शब्दों की अभिधा की अपेक्षा लक्षणा और व्यञ्जना में शक्ति से अधिक काम लिया जाता है। आचार्य शुक्लजी के शब्दों में 'छायावाद' का सामान्यतः अर्थ हुआ 'प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यञ्जना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।' 'छायावाद' ही प्रतीक पद्धति या चित्र भाषा शैली भी कहलाती है।

'प्रसाद' भी 'छायावाद' को काव्य की एक अभिव्यक्ति विशेष ही मानते हैं। वे लिखते हैं—"छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमय होती है।"

'प्रसाद' तथा कतिपय अन्य समीक्षक 'छायावाद' को काव्य की एक शैली तो मानते हैं पर उस शैली के निश्चित तत्त्व भी निर्धारित करते हैं। वे हृदय से स्वभावतः झरनेवाले भावों की अभिव्यक्ति मात्र को ही 'छायावाद' के अन्तर्गत नहीं मानते। प्रत्युत अभिव्यक्ति में, वक्रता, प्रतीकात्मकता भी आवश्यक समझते हैं; पर पं० केशवप्रसाद

[1] 'छायावाद' शब्द का अर्थ अन्य समझकर इन पंक्तियों के लेखक ने अन्तर्वृत्ति निरूपक रचनाओं को सन् १९२८ से 'रहस्यवाद' के नाम से पुकारना प्रारम्भ कर दिया था।

मिश्र की राय है कि 'छायावाद' की रचना के लिए "हृदय में केवल वेदना ही चाहिए, वह स्वय अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ लेती है।" मिश्रजी की यह व्याख्या उस समय प्रकाशित हुई थी जब हिन्दी मे द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रिया स्वरूप कवि अन्तर्मुख हो रहे थे। उस समय अन्तर्मुखी रचना को ही "छायावाद" कहा जाता था। उसके 'आलम्बन' की ओर ध्यान नहीं जाता था। वक्रतामयी अभिव्यक्ति भी आवश्यक गुण नही माना जाता था।

तभी एक ओर—

"हे मेरे प्रभु व्याप्त हो रहो, है तेरा छवि त्रिभुवन में,
तेरी ही छवि का विकास है, कवि की बानी में, मन मे।"

रामनरेश त्रिपाठी

जैसी पक्तियॉ (जिनमे परमात्मा को लक्ष्य कर 'कुछ' लिखा गया है) छायावाद की रचनाओं के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जाती थीं, वहॉ सुभद्राकुमारीजी की यह रचना भी जिसमें लौकिक प्रेम का रस छलछला रहा है, 'छायावाद' की रचना समझी जाती रही है—

"तुम मुझे पूछते हो, जाऊँ ? क्या जवाब दूँ तुम्हो कहो !
'जा ' कहते रुकती है जबान किस मॅह से तुमसे कहूँ रहो ?
सेवा करना था जहॉ मुझे कुछ भक्ति-भाव दरसाना था।
उन कृपा-कटाक्षो का बदला बलि होकर जहाँ चुकाना था।
मै सदा रूठती ही आई, प्रिय ! तुम्हे न मैने पहचाना।
वह मान बाण सा चुभता है, अब देख तुम्हारा यह जाना।"

'छायावाद' की रचना के लिए न तो 'आलम्बन' विशेष का बन्धन था और न अभिव्यक्ति की प्रणाली ही आवश्यक थी। जिसमे 'हृदय' के राग की छाया दीख पड़ती, वही 'छायावाद' की रचना समझी जाती थी। हम 'छायावाद' को 'हृदयवाद' का पर्याय मानते हैं। अतएव उसकी व्यापकता को स्वीकार कर उन सभी रचनाओ को छायावाद के अन्तर्गत मानते हैं, जिनमें आन्तरिक अनुभूति प्रतिध्वनित होती है। साथ ही जब हम 'छायावाद' को एक काव्य की शैली-विशेष

भी कहते हैं, तब हमें अनुभूति की अभिव्यक्ति मे निरालापन भी दिखाई देना चाहिये। यह 'निरालापन' कई रूप धारण कर सकता है। सरल भाषा में अर्थ गाम्भीर्य भर और प्रतीकात्मक भाषा में भाव-सूक्ष्मता का आभास प्रस्तुत कर हमें कला-सौन्दर्य से विमुग्ध बना सकता है। अतः 'छायावाद' की रचना के लिए निम्न दो बातें आवश्यक हैं—

१—रचना को आन्तरिक अनुभूतिमय होनी चाहिये। और २—रचना की अभिव्यक्ति मे 'निरालापन' होना चाहिये। यह निरालापन शब्दों की किसी भी 'शक्ति' से प्राप्त किया जाय।

'प्रसाद' की अधिकाश रचनाएँ 'छायावाद' की उक्त व्याख्या के अन्तर्गत आती हैं। उनकी रहस्य-सकेतात्मक रचनाओं की 'छाया-वाद' शैली ही है। प्रायः 'प्रतीकों—लक्षणा—के सहारे ही उन्होंने अपनी अन्तर्भावनाओं को प्रकाशित किया है। इसकी चर्चा आगे विस्तार के साथ की जायगी।

प्रगतिवाद और 'प्रसाद'

आधुनिक हिन्दी काव्य-सरिता की चौथी मोड भी 'प्रसाद' के जीवन-काल में स्पष्ट दिखाई देने लगी थी। जिस प्रकार द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया स्वरूप, रहस्यवाद और छायावाद का प्राबल्य हुआ उसी प्रकार रहस्यवाद और छायावाद की स्वर्गिक कल्पनाओं और मधु सकेतों के अतिरेक ने दृश्य जगत की ओर कला-कार की दृष्टि केंद्रित की। सन् १६३५–३६ से यह प्रवृत्ति व्यापक रूप धारण करने लगी। व्यक्ति के रुदन, अभिसार से वह आँख मीचने लगा। आसमान से ओस पत्तों पर बिखर कर अब 'मोती' नहीं बनती; 'मोती' बनते हैं खेतों-खलिहानों में कृषक-किशोरी के कपोलों पर झलकने वाले स्वेद-कण। कल साहित्यकार में समाज समाया हुआ था, आज समाज में साहित्यकार समा गया है। कल का वह दृश्य जब 'ख़य्याम' का कवि किसी तरु-तले लेटा शीतल समीरण के हलके-हलके झोंके खा 'साकी' की अधखुली आँखों से 'आसव' के प्याले की प्रतीक्षा में रह रह सिहर उठता था, उसे नहीं भाता। वह अपने चारों

ओर की वस्तु स्थिति को खुली आँखों से देखना चाहता है, बुद्धि से समझना चाहता है और उसे आज के अनुकूल बनाने का हल खोजना चाहता है। उसकी 'भीतर' से 'बाहर' झाँकने की इस चेष्टा को ही 'प्रगतिवाद' कहा जाता है—जो परिचित शब्द यथार्थवाद के अधिक निकट है। 'प्रसाद' ने इस प्रकार के साहित्य की चर्चा निम्न शब्दों मे की है—"वेदना से प्रेरित होकर जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में प्रायः सिद्धान्त बन जाता है कि हमारे दुःख और कष्टो के कारण प्रचलित नियम और सामाजिक रूढियाँ हैं। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य मे होने लगता है। इस प्रेरणा मे आत्म-निरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है और यह सब व्यक्ति वैचित्र्य से प्रभावित होकर पल्लवित होता है। स्त्रियों के सम्बन्ध म नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख हो कर, मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप मे मनुष्यता पहुँच जाती है, तब उन्हीं सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बन्धनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगा है।"

एक प्रसिद्ध तरुण प्रगतिशील कवि* अपने निजी पत्र मे लिखते हैं—"प्रगतिशीलता मे यथार्थवाद वहीं तक है कि उसमे लेखक या कवि का Treatment यथार्थवादी होता है। यथार्थवाद for the sake of यथार्थवाद नहीं.. प्रगतिशीलता में साहित्य की निश्चित आदर्शवादिता रहती है। प्रगतिशील लेखक वास्तव मे

---

* श्री 'अञ्चल'

यथार्थवादी कम होता है, आदर्शवादी अधिक। उन आदर्शों का स्रोत "greatest good of the greatest number", में निहित रहता है।" इनके मत से प्रगतिवादी 'स्वान्तःसुखाय' नहीं, 'बहुजन हिताय' साहित्य-सृजन करता है और यही उसका 'आदर्श' है। पर ऐसे प्रगतिवादी अधिक हैं, जो कहते हैं—"प्रगतिवाद के पीछे मार्क्सवाद की फिलासफी है, जो जीवन को एक भौतिक द्वन्द्व के रूप में आगे बढता देखती है, आज के पूंजीवाद का मरणोन्मुख रूप, समाज का ह्रास और आगे बढ़ने का एक ही मार्ग—श्रमजीवी वर्ग का क्रांतिकारी बल... । ये दो दार्शनिक सिद्धान्त आपस मे टक्कर लेते हैं—हीगल का आदर्शवाद और मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद * (Dialectical materialism)."

एक मराठी आलोचक का मत है—"वाङ्मय मे समाजवाद, साम्यवाद, राजनीति आदि विषयों को देखकर लोग चौंकते हैं परतु इसमें चोंकने की बात ही क्या है? हमारा जीवन और हमारी सामाजिक परिस्थितियाँ राजनीतिक गुत्थियों से इतने सम्बद्ध हैं कि हमारे साहित्य मे राजनीतिक समस्याएँ आयेंगी ही, समाजवाद आयेगा ही। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जिस रचना मे लाल झण्डा, कुदाली-फावडा है, वही प्रगतिशील साहित्य है। प्रगतिशील साहित्य में वास्तवाद का चित्र खिंच आना चाहिये। परिस्थिति को चित्रित करनेवाला साहित्य ही जीवित रहेगा।"

प्रगतिवादी साहित्यकारों के विभिन्न दृष्टिकोणों को पढने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अभी वे अपने 'वाद' की स्पष्ट रूप-रेखा नहीं खींच सके; वे यथार्थवाद और आदर्शवाद मे से किसी एक को ही अपनाने में झिझकते हैं। अतएव अपने विचारों को इस तरह उलझी हुई भाषा में रखते हैं कि जिससे वे अपने को यथार्थवादी और आदर्शवादी दोनों कह सकें और वे अपना दार्शनिक आधार 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' मानते हैं। अतएव हमें सबसे पहिले 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' को ही समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

---

* प्रो॰ प्रकाशचन्द्र गुप्त।

यह 'गाद' (Dialectical materialism) मार्क्स ने अपने गुरु हीगल के दर्शन-तत्वों के विरोध से निर्मित किया है। मार्क्स अपनी आयु के पच्चीस वर्ष तक हीगल को देवता के समान पूजता था। वह उसकी आकर्षण शक्ति पर बेहद मुग्ध था, उसमें दैवी आभा देखकर आत्मविभोर हो उठता था, पर धीरे-धीरे उसे हीगल की सम्मोहनशक्ति से विरक्ति हो गई, उसके 'दर्शन' को 'शराबी की कल्पना-तरंग' कह कर उसने अपने गुरु से लोहा लिया। हीगल जहाँ त्रिगुणातीत ब्रह्म को ही अन्तिम सत्य मानता था, वहाँ मार्क्स 'जड़वाद' ही को सब कुछ समझता था। हीगल के विरुद्ध फॉदरबक ने प्रथम बग़ावत का झण्डा फहराया। मार्क्स ने हीगल के 'चैतन्य' को तो ठुकरा दिया पर उसे देखने की जो हीगल की द्वन्द्वात्मक भूमिका थी, उसको उसने ग्रहण कर लिया, साथ ही फॉदरबक के जडवाद को अपना कर उसने अपना नया गत्यात्मक या विरोध-विकास-जन्य जडवाद निर्माण किया।

जहाँ हीगल कहता है कि द्वन्द्व प्रक्रिया से—सघर्ष से—'चैतन्यमय' विश्व का प्रकटीकरण होता है वहाँ मार्क्स सघर्ष को—द्वन्द्व को किसी परिणाम का कारण तो मानता है—वह मानता है कि द्वन्द्व से विश्व या सृष्टि का प्रकटीकरण होता है, पर वह उसमे 'चैतन्य' को सम्मिलित नही करता। 'जड़-सृष्टि' के विकास का आशय क्राति है—वह क्राति जो मजदूरशाही को जन्म देती है—मज़दूरों का राज्य स्थापित करती है। मजदूरशाही तभी क़ायम हो सकती है जब 'बुर्जुआ वर्ग' से सघर्ष लिया जाय और यह सघर्ष 'क्राति' खड़ी कर देने से ही फलदायी हो सकता है।

'क्राति'—सघर्ष का रूप भीतर और बाहरी दोनों हो सकता है। वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक स्थिति मे क्राति करने के लिए व्यक्तियों के हृदयों मे परिवर्तन पैदा किया जा सकता है और उन्हें बलप्रयोग से ध्वस भी किया जा सकता है। आभ्यन्तर—परिवर्तन के उद्देश्य से जो क्रान्ति खड़ी की जाती है, उसमे समय लगता है। मार्क्सवाद हृदय-परिवर्तन में आस्था नहीं रखता। कल्पना, भावना

जैसी कोमल मनोवृत्तियों का उसमें स्थान नहीं है। इसीलिए वह 'बल-प्रयोग' मे विश्वास रखता है। मार्क्सवाद 'वस्तु' को उसके बाहरी रूप में ही देखता है।

उसका दृष्टिकोण ही (objective) (बाह्यात्मक) है क्योंकि उसका विश्वास है कि 'वस्तु' के ऊहापोह से वस्तु का असली रूप प्रकट नहीं होता, वरन् हमारी ही कल्पना हमारे सामने खड़ी हो जाती है—हम 'वस्तु' में अपना ही रग भरकर उसे विकृत बना देते हैं, तभी मार्क्सवादी 'यथार्थवादी' होता है। जो 'मार्क्सवाद' मे 'आदर्शवाद' की चर्चा करते हैं, वे उसकी 'दर्शन'-नीव को अपने से ओझल रखते हैं। मार्क्स-दर्शन जड़वादी होने के कारण करुणा, नीति या आचारवाद पर विश्वास नहीं रखता। उसमें "आध्यात्मिकता (spirituality)" का स्वभावतः अभाव है।

मार्क्स का यह दर्शन, जैसा कि कहा जा चुका है, हीगल के तत्त्व-ज्ञान से 'चैतन्य' को ऋण करके ही निर्मित किया गया है। प्रो० लेवी के शब्दों मे मार्क्स का यह दृष्टिकोण "वास्तववादी" हैं।

कई मार्क्सवादियों का विश्वास है कि साहित्य-कला अपने समय को ही प्रतिबिम्बित करती है। वे यह नहीं मानते कि कलाकार भविष्य का भी स्वप्न देख सकता है, आत्मदर्शन मे उनकी आस्था नहीं है। उनका कहना है कि ससार मे कला, नीति, विज्ञान आदि का जो विकास दीख रहा है, वह भौतिक परिस्थिति को ही मूल रूप में धारण किए हुए है। अतः समय-विशेष की कला आदि के विकास के कारणों को ढूँढने के लिए हमें तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक समस्याओं पर दृष्टिपात करना होगा। परन्तु मार्क्सवादियो की 'बाइबिल' 'कैपिटल' (अंग्रेजी सस्करण) के भूमिकाकार लिखते हैं कि "Marx does not say, as some have represented him as saying that men act only from economic motives" (मनुष्य आर्थिक उद्देश्य को लेकर ही विकास करता है, यह मार्क्स कहीं नहीं करता।) उसने तो मानव उद्देश्यों की चर्चा ही नहीं की।

मार्क्सवादियों को अपने 'वाद' के एकाङ्गीपन का नव अनुभव

हुआ तो वे उसका क्रमशः स्पष्टीकरण करने लगे। एञ्जिल ने अपने एक मित्र के पत्र मे लिखा है—Marx and I are partly responsible for the fact that at times our desciples have laid more weight upon the economic factor than belongs to it" (हमारे अनुयायियों ने आर्थिक तत्त्व को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है और इसके लिए मै और मार्क्स ही जिम्मेदार हैं) ।

"बाह्यकारणों के विद्यमान होते हुए भी हर देश और काल मे 'क्राति' क्यो नहीं मच जाती ?" की ओर जब मार्क्सवादियो का ध्यान गया, तो उन्हे अपने तत्त्वों की एकागिता और भी अखर उठी। तब उन्होंने बाहर से जरा भीतर देखना प्रारम्भ किया, और इसके लिए उन्होंने 'फ्राइड' का सहारा लिया। मार्क्सवाद में 'फ्राइड' का प्रवेश उसके दायरे की वृद्धि के लिए ही किया गया। आसबोर्न ने कहा भी है कि यदि 'मार्क्सवाद' की एकाङ्गिता नष्ट करनी है, तो फ्राइड के मानस तत्त्वों को हमे अपनाना होगा !" फ्राइड का मत है कि समाज-भय से जो वासनाये अतृप्त रहती हैं वे अन्तर्मन पर छाई रहती हैं और वे ही अनेक रूप धारण कर स्वप्न मे प्रकट होती हैं। जब वासनायें असह्य हो उठती हैं, तब मन मे अनेक विकृतियाँ पैदा हो जाती हैं। इसलिए व्यक्ति का यदि समुचित विकास अभीष्ट हो, तो उसकी वासनाओं की प्यास बढने नहीं देना चाहिए। फ्राइड ने काम प्रेरणा पर ही जोर दिया है। फ्राइड को यद्यपि मार्क्सवादियों ने आत्मसात कर लिया है और इस तरह लजाकर ज़रा अन्तर्मुख होने का प्रयास किया है परन्तु 'फ्राइड' की अनुसन्धान-दिशा भी भ्रमपूर्ण है, उसने मन की विकृतियों का विश्लेषण तो किया है परन्तु उसमे भी एकाङ्गीपन का दोष आ गया है। स्त्री-पुरुष के आकर्षण मे लैङ्गिक विरोध ही कारणीभूत होता है, यह सर्वमान्य सिद्धान नहीं है। प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री की ओर काम-वासना की तीव्रता से ही खिंचता है, यह पुत्र-माता, भाई-बहिन आदि के हृदयों में बहने वाले अजस्र प्रेम की निर्मलता स्वीकार नहीं करती। फ्राइडवाद विकृत (morbid) मन

के स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में सम्भवतः लागू हो सकता है; स्वस्थ और ध्येयवादी मन का विश्लेषण फ्राइड ने यदि किया होता तो वह सतों और साध्वियों की उन अनुभूतियों का कारण ढूँढ़ सकता था—जो अपने ही में भूले रहते, खिंचे रहते थे।

"गगन गरजि बरसै अमी, बादर गहिर गँभीर,
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर।"

'मीरा' अपने किस स्थूल 'पुरुष' के लिए पागल हो कहती थी—"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई"? वासना-विहीन-प्रेम को 'प्लेटेनिक लव' कहते हैं, जिसमें स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध लैङ्गिक आकर्षण से शून्य रहता है। पर 'मीरा' का प्रेमाधार तो प्रकृत पुरुष भी नहीं है। उसने तो प्लेटो के शब्दों में 'प्रेम की उस भूमिका में प्रवेश किया था—जहाँ विरहाकुल आत्मा शाश्वत सौन्दर्य प्रकाश में लीन हो जाती है।"

फ्राइड ने रोगी-मन का विश्लेषण कर जो मनोविज्ञान के तथ्य प्रस्तुत किए, उनसे आत्मप्रेरणा, आत्मानुभव तथा आत्मसाक्षात्कार की गुत्थियाँ नहीं हल होतीं। यदि फ्राइड के तत्त्वों को मान लिया जाय, तो हमारा सारा 'सन्त-साहित्य' केवल 'बुद्धि की कसरत' ही रह जाता है; पार्थिव सम्बन्ध के अतिरिक्त भी हमारी एक आकांक्षा है—हमारे मन के अन्तरतम में बद्ध एक सूत्र है जो अदृश्य होते हुए भी हमें खींचता है। हम बाह्य द्वन्द्व-संघर्ष से ऊब-थक कर उससे हटना चाहते हैं, क्षण भर अपने में ही खो जाना चाहते हैं। कभी कभी भौतिक सुखों के बीच भी, रह रहकर भीतर से अज्ञात टीस सी जगने लगती है। रवि बाबू के शब्दों में—"विरह-रोदन रह रहकर कानों में प्रविष्ट होने लगता है।" इस तरह मनुष्य का भौतिक और आध्यात्मिक (बाहरी और भीतरी) दो प्रकार का जीवन स्पष्ट है। हमारी संस्कृति मनुष्य के एक मात्र भौतिक जीवन की कल्पना कर ही नहीं सकती। योरप में भी विचारक अब कहने लगे हैं कि "युद्ध-पश्चात का योरप चाहे जो रूप धारण करे, पर सच्चा परिवर्तन तभी सफल होगा जब हम आध्यात्मिक तत्त्वों को अपना लेंगे।"

यहाँ एक प्रश्न और विचारणीय है। वह यह कि क्या 'मार्क्स' ने 'साहित्य-कला' पर कोई विवेचना की है? नहीं, कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो (साम्यवादी विज्ञप्ति) मे केवल यही कहा गया है कि "आजतक जो धधे प्रतिष्ठित समझे जाते थे, जिनका आदरमय आतङ्क से उल्लेख किया जाता था, उन्हें 'बुर्जुआ वर्ग' ने श्री हीन बना दिया है। डॉक्टर, वकील, धर्माचार्य, कवि और वैज्ञानिक उसके इशारे पर नाचने वाले 'भाड़ैती' (मजदूर) बने हुए हैं।" उसने बुद्धि-जीवियों पर एक व्यग मात्र किया था और उस समय क्राति को सफल बनाने के लिए उसे ऐसे प्रचार-साहित्य की आवश्यकता भी थी, जिसमें शोषक-सम्प्रदाय को हतप्रभ बनाया जाय। उसके इस 'बकोटे' ने काम जरूर किया पर उससे जो साहित्य निर्मित हुआ वह अधिकाश प्रचार श्रेणी का ही रहा। इसका आभास ट्राट्स्की के इन शब्दों मे मिल जाता है—"साहित्यकार श्रमजीवी सस्कृति, श्रमजीवी कला की पुकार तो मचाते हैं पर उनकी दस बातों मे से तीन बातें विवेक रहित होकर भावी (?) साम्यवादी जीवन की कला और संस्कृति की ओर निर्देश करती हैं; दो बातें भिन्न (?) श्रमजीवन और श्रमजीवियों की विशेषताओ को इङ्गित करती हैं और शेष पॉच उन तत्वों की ओर इशारा करती हैं जिनका कोई अर्थ ही नहीं होता।"

इसीलिए उसने चिढकर यह भी कहा कि—यह सत्य नहीं है कि हम अपने कवियों को सदा फैक्टरियों की चिमनियों या बुर्जुआ-वर्ग-विद्रोह के गीत ही गाने को कहते हैं। हम उसे ही प्रगतिशील नहीं मानते, जो श्रम-जीवियों का राग अलापता है।"

इस तरह हम देखते हैं, मार्क्सवादी साहित्य की धारणाओं मे भी 'प्रगति' हो रही है; अतः मार्क्स के मूल तत्वों को ही अपना आदर्श मानकर रचा जानेवाला साहित्य रूढिवादी ही समझा जायगा। आज तो प्रगतिशील कहलानेवाला साहित्यिक 'मार्क्सवादी' बनने के कारण विश्व के शरीर को ही देखना चाहता है, आत्मा को नहीं। इसी से उसका साहित्य वर्णन-प्रधान रहता है। 'वस्तु' और 'घटना' का यथार्थ वर्णन भी कला का एक अग है। हमारे बहुत कम साहित्यिको को यह

कला साध्य हुई है । वे कुछ देखते, कुछ सुनते और कुछ की कल्पना कर वस्तु या घटना को खींचने का प्रयत्न करते हैं । वे जिस स्थिति का खाका उतारना चाहते हैं, उसमें वे अपने को भली भाँति रङ्ग नहीं पाते । मज़दूरों व किसानों का जीवन उन्होंने बाहरी और भीतरी आँखों से नहीं देखा । उनकी स्थिति हमें बर्नार्डशा के 'मेन एण्ड सुपरमैन' के मेंडोजा-सी लगती है, जो समय की 'हवा' समझकर ही अपने को 'साम्यवादी' कहलाना चाहता है । ऐसे लेखकों की रचनाओं में वास्तविकता, यथार्थता की खोज करना कठिन ही है । यह तो स्पष्ट ही है कि लेखकों में अधिकांश मध्यम-श्रेणी का प्रतिनिधित्व रखते हैं । अतः उन्हें निम्नश्रेणी की समस्याओं का बहुत कुछ अपनी सभ्यता और स्थिति से ही चित्रण करना पड़ता है । ऐसा चित्रण किस हद तक सफल होता है, इसकी आलोचना 'लन्दन मर्क्यूरी' में एक शोषित-वर्गीय लेखक 'विलियम नहल' ने इन शब्दों में की है—

"What have this tribe of middle class lawyers, persons and scribes to tell me about my class? How can they possibly know what life looks like to us . . .The truth is that... it requires very powerful faculties of imagination indeed, to portray accurately and with any degree of fulness, characters that breathe out of his own little social tradition."

(ये मध्यम श्रेणी के वकील, पादरी और लेखक मेरे समाज के विषय में क्या कह सकते हैं ? हमें जीवन का कैसा अनुभव हो रहा है, इसे ये क्या जानेंगे ? सच तो यह है कि अपने समाज की सीमित परम्परा के बाहर अन्य वर्ग के ठीक ठीक हूबहू-चित्रण के लिए बड़ी भारी कल्पना शक्ति की आवश्यकता पड़ती है ।)

हमारे लेखक बन्द कमरों में बैठकर युद्ध-क्षेत्र की विभीषिका का चित्र उतारने का प्रयत्न करते हैं । उनके प्रयत्न में कल्पना की उड़ान मिल सकती है । परन्तु उस क्षेत्र का चित्र कैसे दिख सकता है, जिसे

उनकी आँखों ने कभी देखा ही नहीं। तभी उनके यथार्थ कहे गये वर्णन निर्जीव रहते हैं! रूसी लेखकों के विषयों को अपना बना लेना आसान है, पर उन विषयों मे अपनापन भरना आसान नहीं है। क्योंकि रूसी लेखकों ने अपनी आँखों से किसान-मज़दूरों की क्रांति देखी और उसके परिणामों को अनुभव किया था। हमें उस समय सचमुच बड़ी हँसी आती है, जब हम अपने कवियों के 'कृषक और मज़दूरो के 'विजय-गीत' पढते हैं। अभी तो उनका संघर्ष प्रारम्भ ही नहीं हुआ, उन्हें यह भी भान नहीं है कि साम्यवाद क्या बला है। क्राति उनके रक्त और प्राण-दान से अपनी प्यास बुझा भी नहीं पाई और कवियों ने उनके मुख मे विजय के गीत भर दिए!! क्या यही उनका वास्तव-वाद है? सच्चा रूसी लेखक क्या करता है, इसे वी० किरपोटीन के शब्दों मे पढ़िए—

"Soviet literature is unusually thirsty for life, it ceaselessly watches life and learns from life The best Soviet writers would be ashamed to write on a theme that was not of a social character or on a theme that they had not studied. This knowledge of life is often achieved through a direct participation in it in the life of the factory, the construction and the collective farms"

(सोवियट-साहित्य जीवन के लिए अत्यधिक प्यासा रहता है, वह लगातार जीवन का निरीक्षण करता और जीवन से ही सीखता है। श्रेष्ठ लेखक समाज के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर या ऐसे विषयों पर जिसका उसने स्वयं अध्ययन नहीं किया, लिखने में लजायेगा। जीवन का ज्ञान स्वयं अनुभव लेकर प्राप्त किया जाता है—कारखानों और खेतों में काम करके।)

जहाँ स्वयं अनुभूति नहीं है—कोरी कल्पना या भावुकता है, वहाँ यह कहा जा सकता है कि वह मार्क्स-दर्शन की हत्या है, यथार्थवाद का अभाव है।

योरप में कई समाजवादी यथार्थ-दर्शी लेखकों ने अपने ध्येय की खोज में युद्ध के मैदानों में अपने प्राणों तक की आहुति दे डाली है—किसान और मज़दूरों के साथ समरस होना उनके लिए साधारण बात रही है। तभी उनके लेखन में कोरी चित्रात्मकता नहीं, अनुभूति-मय स्फुलिङ्ग भी धधक रहे हैं। अभिव्यञ्जनावादी कह सकते हैं कि 'चित्रात्मकता' भी कला का 'सुन्दरम्' है पर 'कला' का 'सुन्दरम्' जीवन के 'सत्यम्' के अभाव में 'शिवम्' कैसे बन सकेगा? 'आनन्द'—रस का संचार कैसे कर सकेगा?

यह कहा जा सकता है कि हम 'आज' से आँखें बन्द कर स्थिर नहीं रह सकते। समाज में जो राजनीतिक चेतनता का नयनोन्मीलन हो रहा है, उसकी ओर हमारा खिंचना स्वाभाविक है। पर प्रश्न यह है कि जिस 'चेतना' का चित्र कवि अपनी रचनाओं में खींच रहे हैं, उसमें 'सत्यता' है या केवल अभिनय-मात्र है? हमारे देश में तो रूसी कृषक-मज़दूर वर्ग की मनो-भूमिका ही निर्मित नहीं हो पाई है। जो 'गीत' उनके नाम पर गाये जाते हैं, वे गायक की बुद्धि की ही सृष्टि होते हैं। कृषक की आत्मा उनके साथ समरस नहीं हो पाती। क्योंकि वह उसकी चीज नहीं है। राजनीति के रह-रह परिवर्तित होनेवाली लहरों के साथ कविता की गति कैसे बाँधी जा सकती है? कविता प्रचार का साधन-मात्र नहीं बन सकती। रूस में समाज और राजनीति के सिद्धान्त प्रयोगावस्था में ही रहे हैं। आज वहाँ तो साम्यवादी महान् अन्तर्राष्ट्रीय तृतीय संस्था (Third International) को ही भङ्ग कर दिया गया है और पारिवारिक प्रथा को पुनः जीवन-दान दिया जा रहा है। धर्म का 'ईश्वर' भी गिरजों में मुसकुराने लगा है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वहाँ भी जनता के हृदय ने कतिपय बुद्धिवादियों के समाज, धर्म और राजनीति के तत्वों को ग्रहण नहीं किया था। अतः यह भी कहा जा सकता है कि वहाँ के 'साम्यवादी' साहित्य में राष्ट्र या जातीयता की आत्मा का स्वर नहीं था; वह व्यक्ति विशेषों (रचयिताओं) की बुद्धि का कौशल मात्र था; अधिक से अधिक भावी युग का स्वप्न था। पचीस-तीस

वर्षों के पश्चात् जब रूसी तरुण की आँखे कथित 'प्रगतिवादी' साहित्य पर दौडेंगी, तब वह उसके विनोद की चीज ही होगा। उसका महत्व प्रचार-पत्रों से अधिक नहीं रह जायगा। काव्य, घटनाओं का इतिहास नही, जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब होता है। राजनीति काव्य को प्रचार का वाहन बना कर तो स्वय 'प्रगति' कर लेती है पर 'काव्य' की अगति (दुर्गति ?) ही हो जाती है। 'समय' साहित्य मे झाँकता अवश्य है, पर वह अपना आन्तरिक स्पन्दन लेकर ही उसमें आता है, विशेषतः काव्य मे तो वह व्यापक-सामान्य-मनोभावो के साथ ही तरङ्गित होता है।

'प्रसाद' प्रधानतः अन्तर्वृत्ति निरूपक कवि हैं। वे अपने भीतर स्वयं को तथा वस्तु-जगत को भी देखते हैं। 'समय' की सर्वसाधारण-व्यापक-चेतनाओं के प्रति वे सजग हो उठते हैं। उनकी कृतियों में युग-धर्म मे उच्छ्वसित होनेवाली 'प्रगतिशीलता' के दर्शन होते हैं। उन्होंने मानव और मानवता के प्रति अपने राग को प्रदर्शित किया है और मानववाद इस युग की आतुर पुकार है। मैक्सिम गोर्की ने कहा है—"मनुष्य गौरव से भरा हुआ एक शब्द है।" वाल्टर ह्विटमैन के शब्द हैं—"मै अपनी जाति पर बलि जाता हूँ।" एक स्थल पर वह यह भी लिखता है—

"To be surrounded by beautiful, curious breathing, laughing flesh is enough I do not ask any more delight I swim in it as in a sea. There is something in staying close to men and women and working in them and in contact and odour of them, that please the soul well"

(स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में रहना मुझे बहुत अच्छा लगता है; उनके सान्निध्य तथा सुरभि से मै मस्त हो जाता हूँ—मेरी आत्मा खिल उठती है।) कीट्स भी इसी भाव-प्रवाह मे बहे हैं—"A thing of beauty is joy for ever" (सुन्दर वस्तु सतत आह्लाद की वर्षा करती रहती है।)

मानव-राग और मानवता की प्रवृत्ति का अर्थ हो सकता है—

(१) स्त्री-पुरुष के प्रति प्रेम-भाव (व्यष्टि-प्रेम)

(२) मनुष्य जाति के प्रति समानता की दृष्टि (समष्टि-प्रेम)

(३) नरेतर प्राणियों के प्रति कोमलता की भावना।

(४) अप्रकृत रूढ़ियों के प्रति अनास्था।

स्त्री-पुरुष के प्रति प्रेम-भाव (व्यष्टि-प्रेम)

'प्रसाद' ने ह्विटमैन के समान 'स्थूल' पर आसक्ति तो प्रदर्शित की है, पर उसका वहीं पर्यावसान नहीं हो गया है। उनका प्रेम 'सीमा' में पहुँच कर वहीं बँध और छटपटा कर समाप्त नहीं हो गया। * वह 'परिरम्भ-कुम्भ' की मदिरा पीना चाहता है, निःश्वास मलय के झोंके खाना चाहता है, मुख-चन्द्र चाँदनी-जल से अपना मुँह धोना चाहता है,† और अपने 'आश्रय' के साथ परम सौन्दर्य के दर्शन कर 'आनन्द' की अजस्र वर्षा में भींग कर सिहर भी उठना चाहता है।

---

* "इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रान्त-भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं ?" प्रेम-पथिक

† (१) "परिरम्भ कुम्भ की मदिरा, निःश्वास मलय के झोंके।
मुखचन्द्र चाँदनी - जल से मैं उठता था मुँह धोके।" आँसू

(२) 'स्थूल' के प्रति आसक्ति का उच्छ्वास निम्न-पक्तियों से निःसृत हो रहा है—

"जिसे चाह तू उसे न कर आँखों से कुछ भी दूर।
मिला रहे मन, मन से, छाती, छाती से भरपूर।"

और भी— झरना

"निभृत था—पर हम दोनों थे, वृत्तियाँ रह न सकी फिर दान्त।
कहा जब व्याकुल हो उनसे—'मिलेगा कब ऐसा एकान्त ?
हाथ में हाथ लिया मैंने, हुए वे सहसा शिथिल नितान्त।
मलय ताड़ित किसलय कोमल, हिल उठी उँगली, देखा, श्रान्त॥" झरना

'प्रसाद' मानसिक प्रेम (Spiritual love) को आदर्श मानते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से 'स्थूल' के प्रति आकर्षण और सम्पर्क का विरोध नहीं करते। 'आँसू' में सम्भोग-शृंगार के चित्र बड़े स्पष्ट हैं।

विशुद्ध मानवी आसक्ति को 'परम-प्रेम' में ढाल लेने की वृत्ति कवि के स्तर को बहुत ऊँचा उठा देती है।

कामायिनी मे स्त्री-पुरुष के प्रेम के दृष्टिकोणों की अच्छी व्याख्या मिलतीं है। 'स्त्री' का प्रेम निर्बन्ध होता है, वह तो 'दान' करना ही जानती है, प्रतिकार के लिए उसकी उत्कण्ठा उसे अशान्त नहीं बनाती। स्त्री एक बार किसी से प्रेम करने के बाद प्रिय के अनुकूल न सिद्ध होने पर भी—उसके छल करने पर भी—सतत उसी की ओर खिचती रहती है।* 'श्रद्धा' मनु की हिंसावृत्ति से क्षुब्ध हो जाती है—

"कितना दु:ख जिसे मैं चाहूँ, वह कुछ और बना हो।
मेरा मानस चित्र खीचना, सुन्दर सा सपना हो।"

फिर भी जब मनु उसकी आँखों के सामने आजाता है, तो वह अन्तरतम की प्यास को अपने ही विषाद के 'पानी' से बुझाने को नहीं ठहरती, उसमे अपने को खो देती है। कुछ क्षण पूर्व ही मन के पर्दे पर दौड़ पड़ने वाले ये विचार न जाने कहाँ लोप हो जाते हैं—

"स्खलन चेतना के कौशल का, भूल जिसे कहते हैं।
एक विंदु, जिसमें विषाद के, नद उमड़े रहते हैं।
आह, वही अपराध, जगत की दुर्बलता की माया।
धरणी की वर्जित मादकता, संचित तम की छाया।"

नारी के त्याग का—आत्म-समर्पण का कामायिनी की 'श्रद्धा' उज्ज्वल प्रतीक है। मनु (पुरुष) उससे रूठकर अपने मन को इड़ा में उलझाना चाहता है, फिर भी श्रद्धा उसकी 'सेवा' और उसके 'दर्शन' को व्यग्र हो जाती है और अन्त मे उसे जीवन के चरम लक्ष्य की ओर ले जाकर ही संतुष्ट होती है। अपने 'प्रिय' की कल्याण-साधना में नारी अपने वैभव और 'सुहाग'-सुख तक की खुशी-खुशी बलि चढा देती है। मनु केवल अपना ही चित्र श्रद्धा की 'पुतली'

---

* प्रिय को ठुकरा कर भी मन की, माया उलझा लेती।
प्रणय - शिला प्रत्यावर्तन में, उसको लौटा देती।

कामायिनी

में देखना चाहता था। उसे श्रद्धा की प्रेम-भावना का उसी के पुत्र में विकीर्ण होना भी सह्य नहीं हुआ। उसने गर्भस्थ शिशु के प्रति श्रद्धा के उद्‌जीर्ण भावों को सुनकर ही उसका त्याग कर दिया। अतएव श्रद्धा ने भी जब दुबारा मनु से भेंट की, तो अपने 'कुमार' का ही पहिले उसने त्याग किया। मनु को यह बात अखरी भी पर वह तो सब कुछ खोकर भी, मनु को पाना चाहती थी। बिना एक उसास, एक आँसू के वह मनु के साथ जीवन के विस्तृत पथ पर चल पड़ती है। तभी तो श्रद्धा कहती है—

"मैं दुःख को सुख कर लेती हूँ।"

....

"अनुराग भरी हूँ मधुर बोल।"

'श्रद्धा' में भारतीय नारी के उत्सर्गमय प्रेम का अत्यन्त मोहक रूप झलक रहा है।

पुरुष के प्रेम का प्रतीक 'कामायिनी' का मनु समझा जा सकता है पर उसके राग में निर्मलता नहीं है, ऊषा सी पवित्र लालिमा नहीं है; वह सीमित है अपनी ही मनोवृत्तियों के उलझन भरे काँटों से। पुरुष-सौन्दर्य पर रीझता है, गुणों की ओर आकर्षित होता है, पर अपने अस्तित्व को प्रतिदान पाकर ही मिटाना चाहता है; 'नारी' प्रेम करने के बाद तर्क-वितर्क ही नहीं अपने अस्तित्व को ही विस्मृत कर देती है। पुरुष अपनी प्रेमिका की आँखों में अपना ही चित्र, मन में अपना ही ध्यान और हृदय में अपना ही स्पन्दन चाहता है। तभी वह अपने मानस-मुकुर में उसे प्रतिबिम्बित रख सकता है।* 'प्रसाद' का 'पुरुष' अपने प्रिय के प्रेम को इतना अधिक सीमित कर देना चाहता है कि उसकी छाया का उसके 'पुत्र' की ओर झुकना भी उसमें 'द्विविधा' का विष घोल देता है।

---

*"काली आँखों की (?) तारा में, मैं देखूँ अपना चित्र धन्य।
मेरा (?) मानस का मुकुर रहे, प्रतिबिम्बित तुमसे ही अनन्य।"
"इतना मेरी ही चिन्ता का, तब चित्त वहन कर रहे भार।"

कामायिनी

'श्रद्धा' जब अपने भावी पुत्र के कल-विनोद की कल्पना कर उमँग उठती है—

"मेरी आँखो का सब पानी, तब बन जायेगा अमृत स्निग्ध।
उन निर्विकार नयनो में जब, देखूँगी अपना चित्र मुग्ध।"

तब 'मनु' की ईर्ष्या अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाती है। वह कहता है—

"यह जलन नही सह सकता मै,
चाहिये मुझे मेरा ममत्व;
इस पञ्चभूत की रचना में,
मै रमण करूँगा बन एक सत्व।
यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो,
है प्रेम बाँटने का प्रकार।
भिक्षुक मै ना, यह कभी नही,
मै लौटा लूँगा निज विचार।"

'प्रसाद' ने पुरुष की ईर्ष्या का जो स्वरूप उक्त पंक्तियों में खीचा है उसे 'सामान्य' कहने को जी नही चाहता। पुरुष का प्रेम का वितरीकरण सह्य नहीं, माना। पर प्रेम के जिस स्वरूप को श्रद्धा बाँटना चाहती थी, वह तो मनु की आसक्ति का न था, वह अपनी आँखो की पुतली में मनु के पुत्र का चित्र जिसे मनु की छाया ही कहा जा सकता है उतारना चाहती थी। श्रद्धा की आँखे यदि किसी ऐसे व्यक्ति पर जमती जिसमे 'स्खलित' यौवन-भावना के मधु 'बुन्दों' का प्रमाद होता, तो 'मनु' की ईर्ष्या यदि साक्षात् अग्नि बनकर भी श्रद्धा को भस्म कर डालती, तो हमे उसमे लेशमात्र भी अस्वाभाविकता न दीख पड़ती, उसमे हम पुरुष की एकान्त भावना के अतिरेक का आघात कारिणी-भूत देख सकते थे। पर श्रद्धा के "वात्सल्य" के प्रति मनु की ईर्ष्या का पतित प्रदर्शन अप्रासादिक प्रतीत होता है। "प्रेम गली अति साँकरी तामे दो न समायँ"? उसी दशा मे ईर्ष्या का कारण बन सकती है, जब उसमें समान भाव के 'दो' प्रविष्ट होना चाहते हों। इतना ही नहीं, 'प्रसाद' का पुरुष तो अपनी प्रेयसी -

का ध्यान 'पशु' की ओर खिंचते देखकर भी ईर्ष्या से सुलगने लगता है।

कवि ने पुरुष को प्रेम में अनुदार, ईर्ष्यालु, असयत और स्वार्थान्ध चित्रित किया है। उसमे नारी के अनुराग के समान निर्मलता, त्याग, व्यापकता और कर्तव्य-सजगता नहीं देखी। तभी उन्होंने पुरुष से उसकी 'चेतना' का 'नारी' के चरणों मे समर्पण कराया है—

"आज ले लो 'चेतना' का यह समर्पण दान।
विश्वरानी ! सुन्दरी नारी ! जगत की मान।"

प्रसाद ने व्यक्ति प्रेम मे उत्सर्ग-त्याग की महत्ता मानते हुए भी शारीरी सम्बन्ध की तनिक भी उपेक्षा नही की है—एन्द्रिकता को स्वाभाविक मानकर ही वे चले हैं।

"और एक फिर व्याकुल चुम्बन, रक्त खौलता जिससे
शीतल प्राण धधक उठता है, तृषा तृप्ति के मिस से।"

कामायिनी

जब 'यौवन के माधवी-कुंज' मे कोकिल बोल उठती है, अपने आप हृदय शिथिल हो जाता है और तब 'लाज के बन्धन' अजाने ही खुल जाते है—'विछलन' परी चॉदनी रात अपने 'कम्पित अधर' से बहकाने की बात ही तो कहती है ! यौवन में आँखों की 'प्यास' और अतृप्तिजन्य तड़पन के प्रति कवि निठुर नहीं हुए। उन्होंने 'आँख' और 'मन' दोनों के खेलों मे उल्लास अनुभव किया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक फ्राइड कहता है कि मनोविकारों का दमन अस्वास्थ्यकर है। मानस और शरीरी सन्तुलन के लिए उनका एकबारगी विस्फोट हो जाना आवश्यक है। व्यक्ति-प्रेम मे 'प्रसाद' का भी प्रायः यही विश्वास बोलता है पर वे प्रेम का आदि और अन्त एन्द्रिकता नहीं मानते। उनका प्रेम 'अञ्जन रेखा' के 'काले पानी' की सजा काट कर निष्पाप बन जाता है और तब उसे जो दिखाई देने पर भी नहीं दीख पड़ता, धड़कनों में काँपकर भी जो दूर समझ पड़ता है; खोजने के लिये 'ग्रह पथ' में टकराने को दौड़ जाता है। वह 'यहीं' नहीं ठहरना

"यह क्या श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक दे निज सम्बल।
सब पाप-पुण्य जिसमें जल-जल
पावन बन जाते हैं निर्मल;
मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखंड आनन्द वेश।"

कामायिनी

प्रगतिवादियों के साम्प्रदायिक मत से 'प्रसाद' का यहीं, विरोध टक्कर खाता है। वे भौतिकता को ही सब कुछ मानते हैं, ये 'भौतिकता' का मान करते हुए भी उससे परे के 'रहस्य' को सब कुछ मानते हैं। यही उनकी 'समरसता' है।

व्यष्टि प्रेम

'प्रसाद' का कवि व्यक्ति प्रेम मे 'वल्लरियों' के बीच मधु की प्यास भरकर ही उलझ नही गया है वह अपने लोक-पक्ष मे भी सहानुभूति-बिखेरता दीख पड़ता है।

"फिर उन निराश नयनों की, जिनके आँसू सूखे हैं।
उस प्रलय दशा को देखा, जो चिर वञ्चित भूखे हैं।"

आँसू

'प्रगतिवादियों' के समान वे भी 'दीन दुखियों' के प्रति अपनी भावना उँडेलते हैं—

"दीन दुखियों को देख आतुर अधीर अति,
करुणा के साथ उनके भी कभी रोते चलो।" झरना

सुख, अधिकार और धन के केन्द्रीकरण के प्रति भी उनका स्वरोद्-घोष सुन पड़ता है—

"अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा !
औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो,सबको सुखी बनाओ।"

कामायिनी

क्योंकि जो 'अपने मे सुख को सीमित' कर लेता है वह दूसरों के लिए केवल दुख ही तो छोड़ सकता है। इसीलिए कवि का प्रश्न है—

"इतर प्राणियों की पीड़ा लख, अपना मुँह मोड़ोगे ?"

जो अपने 'धन' को अपने ही उपयोग के लिए बटोर रखते हैं उनके अस्तित्व का कवि अन्त ही चाहते हैं—

'ये मुद्रित कलियाँ दल में, सब सौरभ बन्दी कर लें,
सरस न हो मकरंद विंदु से, खुल कर तो ये मर लें।'

कामायिनी

कवि का 'Live and let live' (स्वयं जीवित रहो और दूसरो को भी जीने दो) में अटूट विश्वास रहा है—

"क्यों इतना आतङ्क ठहर जाओ गर्वीले।
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले।"

कामायिनी

'प्रसाद' की यही 'समरसता' है जिसे पाने के लिए उनकी आत्मा विह्वल होती रही है।

नरेतर प्राणियों के प्रति कोमलता की भावना

'प्रसाद' का हृदय कोमल भावनाओं से ही स्पन्दित होता रहा है। उसमे पशु-पक्षियों के प्रति भी सहानुभूति उमड़ी है। 'स्कन्दगुप्त', 'जन्मेजय का नाग यज्ञ', 'कामायिनी' आदि में उन्होंने पशु-हिंसा की तीव्रतम भर्त्सना की है। कामायिनी में तो श्रद्धा और मनु के प्रेम में 'पशु-हिंसा' ही 'सन्देह' और 'अवसाद' की सृष्टि करती है। जब 'श्रद्धा' मनु की 'हिंसा-वृत्ति' को देखती है, तो इतनी अधिक खिन्न हो उठती है कि वह अपने को ही कोसने लगती है, अपने हृदय के उस सम्मान पर झुँझला उठती है, जो 'मनु' के चरणों मे आत्म-समर्पण करने को व्याकुल हो उठी थी। उसके इन शब्दों में कितनी मार्मिक व्यथा सिसक रही है—

"कितना दुःख जिसे मैं चाहूँ, वह कुछ और बना हो।
मेरा मानस चित्र खींचना सुंदर सा सपना हो।"

अप्रकृत रूढ़ियों के प्रति अनास्था

रूढ़ियो में बँधे रहते हुए भी 'प्रसाद' के कवि ने उनकी आस्था नहीं की। धर्माडम्बर से उन्हे विद्रोह था, उनका विश्वास था कि यदि हम किसी दीन-दुखी पर क्षण भर भी दया दिखायें, तो वह घटों प्रार्थना से अधिक फलप्रद होगी। 'झरना' मे हम पढते हैं—

"प्रार्थना और तपस्या क्यो?
पुजारी किसकी है यह भक्ति।
डरा है तू निज पापो से
इसी से करता निज अपमान।
दुखी पर करुणा क्षण भर हो
प्रार्थना पहरो के बदले।
मुझे विश्वास है कि वह सत्य
करेगा आकर तव सम्मान।"

एक स्थल पर आपके वर्ण-व्यवस्था के विचारों की भी प्रतिध्वनि सुन पड़ती है—

"वर्णभेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिए बना, परतु द्वेष की सृष्टि में, दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, यह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ वह न रहा; गुण-कर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर, अभिजात्य के अभिमान मे परिणत हो गई।"

'प्रसाद' को इसीलिए बौद्धदर्शन से अभिरुचि थी कि वह 'बुद्धिवाद' पर आश्रित है परन्तु वह एकदम ही 'बुद्धिवादी' नहीं हैं; उनमें 'श्रद्धा' का स्रोत भी बहता है। उनकी अज्ञात शक्ति पर भी श्रद्धा है। उनका प्रातिभ ज्ञान (Intuition) उनमें यह विश्वास भरता है कि क्षितिज के परे ऐसी अनेक रहस्यमय वस्तुएँ जिनका यह जगत स्वप्न भी नही देख सकता। उनकी आत्मा 'हिमशल-बालिका' के समान उस परमात्म-सागर से मिलने को अपने आप ही व्याकुल हो उठती है जिसे उसने केवल 'स्वप्नावस्था' मे 'हाल-दशा' में ही देखा था—

"देवलोक की अमृत कथा की माया
छोड हरित कानन की आलस-छाया—
विश्राम माँगती अपना
जिसका देखा था सपना।"

लहर

तात्पर्य यह कि 'प्रसाद' बुद्धिवादी होते हुए भी आन्तरिक समवेदना पर अविश्वास नही करते थे। 'कामायिनी' में उन्होंने बुद्धि और हृदय के सामञ्जस्य को ही साधु बतलाया है। 'प्रगतिवादी' आज केवल बुद्धि की सत्ता ही मानता है, प्रातिभ ज्ञान (Intuition) उसके 'कोष' मे नहीं है।

'प्रसाद्' का नियतिवाद्

'प्रसाद' को बुद्धिवादी मानते हुए भी हम उन्हे 'नियति' मे आस्था रखते हुए पाते हैं और सभवतः बुद्धिवादी होने के कारण ही उन्होंने अपने जीवन सघर्षों का यह परिणाम निकाला है कि मनुष्य 'नियति' की डोरी पर ही झूलता है, उसकी सारी चेष्टाएँ 'अभिलाष' को अपने निकटतम अनुभव करने के सारे प्रयत्न तभी सफल होते हैं, जब 'नियति' की भौहों के बल खुलते हैं; जब 'भाग्य-रेखा' मुस्कुराती है। टेनीसन भी इसी प्रकार का नियतिवादी है। वह भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि "हम क्या हैं ? हम तो भाग्य की ऊँची लहरों के कोश में इतस्ततः उछलने वाले प्राणी मात्र हैं।"

'नियति' शब्द 'शैव'-दर्शन में भी आया है। शैवागमों में तत्त्वों की संख्या ३६ मानी गई है। उन्हीं में एक तत्त्व 'नियति' है जो 'जीव' की स्वातंत्र्य शक्ति का तिरस्कार करनेवाला है। तभी 'प्रसाद' कहते हैं—

"कौन उठा सकता है धुँधला पट भविष्य का जीवन में।"

"जिस मंदिर में देख रहे हो जलता रहता है कर्पूर।
कौन बता सकता है उसमें तेल न जलने पायेगा।"

प्रेम-पथिक

'कामायिनी' में 'श्रद्धा' और 'मनु' रहस्यमय पथ पर चले जा रहे हैं। मनु के मन में आनन्द की लहरें उठ रही हैं। सहसा फिर कोई मानों उन्हें भीतर भीतर ही सशय से भर देता है—'नियति'-की संदिग्ध छाया सी देखकर वे सहम उठते हैं—

"निराधार है, किन्तु ठहरना
हम दोनोंको आज यहीं है।
नियति खेल देखूँ न, सुनो अब
इसका अन्य उपाय नही है।"

'प्रसाद' को पग-पग पर मानों यही प्रतिध्वनि सुन पड़ती है—

"नियति चलाती कर्म-चक्र यह"

तभी उनके हृदय से यह टीस उठती है—

"धरणी दुख माँग रही है,
आकाश छीनता सुख को।
अपने को देकर उनको,
हूँ देख रहा उस सुख को।"

—आँसू

सुख-दुख का समुच्चय ही 'जीवन' है। पर ससार तो दुख से ही परिपूर्ण है। अतः जीवन मे दुख का भाग ही ससार-संघर्ष से मिलता है और सुख? इसे पाने की कौन आशा? यह तो शून्य मे ही अन्तर्हित है। शायद 'नियति' ही उसे छीन रही है। अतः जीवन के सुख-दुख दोनों की परवा न कर मै अपने 'प्रिय' के रूप को ही अपलक आँखों से देख रहा हूँ, पी रहा हूँ। फिर चाहे नियति दुख के गर्त में ढकेल दे, चाहे सुख के स्वर्ग में ले जाय। 'उसकी' 'साधना' में मैंने जीवन के सुख-दुख की चिन्ता का सर्वथा परित्याग कर दिया है। अपने को भाग्य के भरोसे छोड़ दिया है।

'कामायिनी' में मनु श्रद्धा से बिछुड़कर 'खोखली शून्यता में प्रति-पद असफलता' की 'कुलॉच' देखकर चीख उठते हैं—

"इस नियति नटी के अति भीषण,
अभिनय की छाया नाच रही।"

'आँसू' में भी यही भाव कवि को उद्वेलित कर रहा था—

"नचती है नियति नटी सी,
कन्दुक - क्रीड़ा सी करती।
इस व्यथित - विश्व आँगन में,
अपना अतृप्त मन भरती।"

संसार के प्राणियों को यह नटी 'कन्दुक' के समान उछालती रहती है और उनके उत्थान पतन के साथ अपनी 'क्रीड़ा' करती रहती है। मनुष्य उसके आगे निश्चेष्ट हो जाता है, विवश हो जाता है।

कर्म-शक्ति पर अविश्वास का आवरण डालनेवाला यह नियति-तत्त्व सचमुच मनुष्य को एक ओर तो घोर निराशा से भर देता है और दूसरी ओर उसे अदृष्ट सत्ता मे आस्था रखने को विवश करता है।

'प्रसाद' का नियतिवाद जहाँ उन्हे बौद्धों के 'दुःखवाद' के निकट ले जाता है वहीं वह उन्हे बौद्धों के समान अनीश्वरवादी बनाने से भी रोकता है*। 'प्रसाद' शुद्ध बुद्धिवादी होने के कारण किसी सम्प्रदायी मत के अन्धजाल मे अपने को नही उलझा सके। मध्य-कालीन सन्तों की भाँति उन्होंने 'शैवो' के नियतिवाद की 'साक्षी' ही भरी है। अपनी अनुभूति के बल पर ही उन्होंने उसके चरणों मे सर झुका दिया है।

'प्रसाद' क्षय से पीड़ित थे। शरीर धीरे-धीरे घुला जा रहा था। मित्रों ने आग्रह किया—'अभी रोग बढा नही है; किसी ठण्डे स्थान पर जाकर रहिए; काशी छोड़ दीजिए।' उन्होंने कहा—"मैं कहीं नहीं जाऊँगा। मै जानता हूँ, जो होना होगा वह तो होकर ही रहेगा।"

'प्रसाद' अन्त समय तक काशी ही में रहे। यह उनका नियति विश्वास था, जो जीवितावस्था तक उनकी प्रत्येक श्वास मे बोलता था।

---

* "हे अनन्त रमणीय! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता,
कैसे हो? क्या हो? इसका तो भार विचार न सह सकता।
हे विराट! हे विश्व देव! तुम कुछ हो ऐसा होता भान"—
मद गँभीर धीर स्वर संयुत, यही कर रहा सागर गान।"
कामायिनी

समस्त साहित्य मे उनके जीवन की सच्ची अनुभूति ही तो 'आंसू' बन गई है।

'प्रसाद' के काव्य ग्रन्थ

'प्रसाद' मे आधुनिक कविता का क्रम-विकास मिलता है। उनमे रीतिकालीन ब्रजभाषा की भाव-छटा, खड़ी बोली का अटपट इतिवृत्तात्मक प्रारम्भिक स्वर और फिर उसका परिष्कृत भाव-सौन्दर्य का उदय और उसकी चरम सीमा के दर्शन होते हैं; मुक्तक के भावों का दर्द सा उठना और आँसू सा ढलक जाना तथा महाकाव्य मे भावों का उतार-चढाव जीवन की जटिलता के बीच से मार्ग खोजता हुआ स्थायी प्रभाव जमाता दीखता है। चिन्तन और भावावेश का समन्वय कला के विभिन्न रूपो के साथ सम्पन्न हुआ है।

'रूप' और 'अरूप'—बाह्य और अन्तर्जगत् की अनुभूतियाँ लाक्षणिकता और प्रतीक* के आवरण में व्यक्त हुई हैं। अरूप और अचे-

---

* प्रतीतात्मक अभिव्यक्ति—(१) 'जीवन निशीथ के अंधकार' (कामायिनी) में 'अन्धकार' अत्यन्त निराशा का प्रतीक है।

(२) 'यौवन मधुवन की कालिंदी' (कामायिनी) में कालिंदी कामना का प्रतीक है।

(३) "झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है, नीरदमाला" (आँसू) मे झंझा झकोर गर्जन, हृदय को व्यथित करने वाली तीव्र भावनाओ, विजली, हृदय में रह रह उठने वाला दर्द और नीरदमाला उदासी के प्रतीक हैं।

(४) मुरली मुखरित होती थी' (आँसू) मे 'मुरली' भ्रमरो की गुंजार का प्रतीक है।

(५) "पतझड था, झाड खडे थे, सूखे से, फुलवारी मे। किसलय दल कुसुम बिछाकर, आये तुम इस क्यारी में। आँसू मे पतझड़—शुष्कता; 'किसलय दल कुसुम' सरसता और क्यारी हृदय के प्रतीक हैं'।

(६) "आँसू से धुला निखरता, यह रंग अनोखा कैसा !"(आँसू) मे रंग 'प्रेम' का प्रतीक है।

तन पदार्थों मे भी कवि ने 'चेतना' का आरोप किया है। उन्होंने अपने में और अपने से बाहर सभी में अपनी परछाईं देखी है। वे सब मे समा जाने को व्याकुल रहे हैं। 'विभिन्नता' मे एकता का अनुभव करना उनकी साधना रही है। परन्तु हम यह नहीं कहते कि कवि ने अपने को तटस्थ रखकर कभी कुछ नही कहा। वे केवल 'भाव ही भाव' नहीं रहे। चिन्तन, और मनन के उद्गार भी उन्होंने प्रकट किए हैं। 'आँसू' मे 'कला' का जो रूप दिखलाई देता है, उसमें पर्याप्त बौद्धिक तत्व है जिसकी चर्चा आगे की गई है। बौद्धिक तत्व प्रधान होकर उनमें नहीं आता, इसी से उसकी स्थिति किसी रचना को 'दर्शन' नहीं बना देती। 'प्रसाद' का बौद्धिक तत्व काव्य की कला को सँवारने मे ही यत्नशील होता है—उसकी आत्मा नहीं बन जाता। प्रसङ्ग वश कहा जा सकता है कि आज का 'प्रगतिवादी' कवि इसी तत्व पर पनप रहा है। उसने विज्ञान की विश्लेषणात्मकता को इतना अधिक अपना लिया है कि वही 'काव्य की आत्मा' बन गई। 'प्रसाद' मे चूँकि बुद्धितत्व की अवहेलना नहीं की गई है, इसलिए उनकी रचनाओ में अर्थ की अस्पष्टता अधिक नहीं पाई जाती। अस्पष्टता वहीं कष्टप्रद हो गई है जहाँ 'बहुत दूर की कौडी' लाने की चेष्टा की गई है। जैसे 'लहर' मे एक स्थल पर दुख पहुँचाने वाले व्यक्ति भी सहृदय बन गए (अश्रुपूर्ण

---

(७) "नाविक! इस सूने तटपर किन लहरों में खेला था।" (आँसू) में 'नाविक' मन और 'लहरो' भावनाओं के प्रतीक हैं।

मानवीकरण—"अम्बर पनघट में डुबो रही,
तारा घट ऊषा नागरी" (लहर)

में 'ऊषा' को 'नागरी' का रूप दिया गया है जो अत्यन्त सजीव है। झरना में भी 'ऊषा' को अवगुण्ठनवती स्त्री का रूप दिया गया है "घूँघट खोल ऊषा ने झाँका और फिर अरुण अपाङ्गों से देखा—कुछ हँस पडी ध्वनि से अर्थ व्यञ्जना—"झञ्झा, झकोर गर्जन है, बिजली है नीरदमाला (आँसू) में भावनाओं का तूफान शब्दध्वनि से ही ज़ोर मारता सुन पडता है"। "Words Echoing the sense" इसी को कहते हैं।

हो गए) के लिए। "कॉटो ने भी पहना मोती" कहा गया है। 'प्रसाद' अपनी रचनाओं को 'निरलङ्कृता' रखने के पक्षपाती नहीं रहे—अभिव्यक्ति को सॅवारने में वे सदैव सचेष्ट रहे। उनके 'गीतों' की अभिव्यञ्जना अधिक मधुर है। उनमें प्रवाह शरत्-कालीन सरिता के समान कलकल ध्वनि से 'बीती बातें कहता हुआ' सा बहता है। नाटकों मे कई सुन्दर गीतों की रचना हुई है, जो स्वतन्त्र भी गाए जा सकते हैं। उनमें जीवन का दार्शनिक तथ्य भी अन्तर्हित मिलता है। प्रेम और यौवन की मादकता से उनकी रचनाएँ सिहर ही रही हैं। सच पूछा जाय तो वे यौवन और प्रेम के प्रमुख कवि हैं।

भाषा के सम्बन्ध में 'नियमों' के पालन मे उन्होंने आग्रह नहीं प्रदर्शित किया, वे लिङ्ग और वचन के प्रयोगों में विशेष सतर्क नहीं रहे। 'ऑसू', 'लहर' और 'कामायिनी' में भी उन्होंने 'नारी' को लिङ्गातीत बना दिया है—वह पुरुष बनकर उनके सामने हॅसती है; 'अलकों' मे अपना मुँह छिपाती है और घूँघट डाल कर अञ्चल में दीप छिपाकर 'अभिसार' भी करती है। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यापति की 'राधा' के समान (अनुखन माधव माधव रट-रट, राधा भेलि 'मधाई') वह भी दिन रात 'माधव-माधव' रट कर स्वयं 'माधव' बन जाती है। जो हो, यह प्रवृत्ति उन्होंने उर्दू फारसी काव्य-साहित्य से ग्रहण की है। स्त्री रूप का आकर्षण 'स्त्री' बोधक सम्बोधन से ही बढता है। पर यह प्रवृत्ति 'प्रसाद' तक ही 'सीमित' नहीं रही ; छाया-वादी कवियों मे फैली और यहाँ तक फैली कि उनके 'माधव' भी 'राधा' बनकर अपने केशों को सॅवारने-सिंगारने लगे।

'वचनों' मे भी 'प्रसाद' ने कवि-स्वच्छन्दता प्रदर्शित की है—इसका निर्देश उनके ग्रन्थों के सिंहावलोकन के समय यथाप्रसङ्ग कर दिया गया है। उनके एक ही पद्य मे एक ही व्यक्ति के सम्बोधन के दो-रूप भी मिल जाते हैं—'तू' और 'तुम' दोनों।

"किसी तरह से भूला भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार।
डरो न इतना, धूल धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार॥"

झरना

इस प्रकार का भाषा-शैथिल्य चिंतनीय है ?

इतना सब कुछ होने पर भी उनकी भाषा में कोमलता है : मधुमयी मोहकता है ।

प्रारम्भिक रचनाओं में भाषा मे सजावट के होते हुए भी 'प्रवाह' की कमी पाई जाती है जो 'आँसू' ही में दूर हो सकी है। 'कामायिनी' मे कवि अपनी प्रतिभा का सम्पूर्ण प्रकाश दिखाकर स्वयं 'बुझ' गये हैं—'अतर्धान' हो गए हैं ।

कवि की संग्रह रूप प्रकाशित रचनाओं का क्रम इस प्रकार है—

(१) चित्राधार (२) कानन-कुसुम (३) करुणालय (४) महाराणा का महत्व (५) प्रेम-पथिक (६) झरना (७) आँसू (८) लहर और (९) कामायिनी ।

आगे के पृष्ठों मे चित्राधार, कानन-कुसुम, करुणालय, प्रेम-पथिक, झरना, आँसू, लहर और कामायिनी पर विवेचनात्मक दृष्टि डाली गई है।

चित्राधार

'प्रसाद'ने जिस समय कविता लिखना प्रारम्भ किया था, ब्रजभाषा ही काव्य के लिए उपयुक्त भाषा समझी जाती थी। अतः बीस वर्ष की अवस्था तक कवि ब्रजभाषा में ही अपने उद्‌गारों को ढालते रहे पर जब स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने खड़ी बोली को काव्य का वाहन बनाने का सक्रिय आन्दोलन उठाया तो 'प्रसाद' भी समय की गति के साथ इतनी शीघ्रता से बढ़े कि उन्होंने खड़ी बोली में नवीन रचनाएँ तो लिखीं ही, 'प्रेम-पथिक' को भी जो संवत् १९६२ में ब्रजभाषा में लिखा जा चुका था, संवत् १९७० में खड़ी बोली में उतार लिया। समय उन्हें पीछे न छोड़ दे इसकी चिन्ता उन्हें खूब थी।

हाँ—तो, 'चित्राधार' में उनकी बीस वर्ष की अवस्था तक की प्रायः सभी कृतियाँ संग्रहीत हैं। 'सभी कृतियों' में गद्य-पद्य दोनों सम्मिलित हैं। पहिले खण्ड में उर्वशी, बभ्रुवाहन, अयोध्या का उद्धार, वन-मिलन और प्रेम-राज्य शीर्षक कृतियाँ हैं । इस खण्ड की अन्तिम

तीन रचनाएँ विशुद्ध पद्यमय हैं और प्रथम दोनों गद्य-पद्य का सङ्कर हैं; जिनमें कथोपकथन और गाने की योजना होने से नाट्यछटा का आभास मिलता है। दोनों की भाषा अलंकृत पर माधुर्य पूर्ण है। इससे प्रकट होता है, भाषा को सँवारने की रुचि 'प्रसाद' में प्रारम्भ ही से रही है। 'उर्वशी' मे एक वाक्य है—"मनोहर गुफा, पहाड़ो मे प्रेमी की तरह हृदय खोले बैठी है", इसमें 'जड' का मानवीकरण कितना चित्रदर्शी है। यत्र-तत्र भाषा में व्याकरण की दृष्टि से 'सफाई' नहीं पाई जाती* पर पूरी रचना का समन्वित प्रभाव माधुर्य की ही सृष्टि करता है।

'चित्राधार' का दूसरा खण्ड 'नाट्य' का है।

इसमें दो नाटक संग्रहीत हैं। प्रायश्चित्त और सज्जन। रचनाकाल की दृष्टि से 'सज्जन' 'प्रायश्चित्त' के पूर्व की कृति है। दोनों 'एकाङ्की नाटक' कहे जा सकते हैं। 'सज्जन' का रचना-तन्त्र (टेकनिक) संस्कृत नाटकों पर आधारित है। 'नान्दी' पंक्तियों के साथ 'सूत्रधार' का प्रवेश होता है, और 'नटी' के सम्भाषण के पश्चात् प्रथम दृश्य आँखों के सामने खुलता है। नायक की मनोभावनाओं को गुदगुदाने के लिए 'विदूषक' भी मुँह बनाता है। पद्यों को भरमार है और भरत वाक्य का अर्थ व्यञ्जित करनेवाली पक्तियों सहित उपसहार भी। पर 'प्रायश्चित्त' में यह सब कुछ नही है। उसमे देशभक्ति-भावना की सामयिक लहर भी है।

तीसरा खण्ड 'कथा और प्रबन्ध' का है। इसमें दो कथाएँ और तीन निबन्ध हैं। ब्रह्मर्षि और पञ्चायत शीर्षक कथाएँ पौराणिक हैं और प्रकृति सौन्दर्य तथा सरोज शीर्षक निबन्ध भावना प्रधान हैं जो काव्यमयी शैली मे लिखे गए हैं। पर तीसरा निबन्ध 'भक्ति' पर है जो भावनात्मक और विचारात्मक दोनों है। इसमे लेखक ने 'श्रद्धा' और 'भक्ति' तथा प्रेम का मनोवैज्ञानिक अन्तर स्पष्ट नहीं किया। यह काम स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बाद में किया।

---

*"अकस्मात् एक मनुष्य उसी द्वार से बाहर हुआ और एक अपरिचित मनुष्य को देखकर पूछा।"

बभ्रुवाहन पृ० १—२

चौथा खण्ड 'पराग' है जिसमें मुक्तक कविताओं के मधुर कण झर रहे हैं पर वे प्रायः प्रकृति के उद्यान ही से सञ्चित किए गए हैं। 'पराग' में यद्यपि 'प्रकृति' आलम्बन के रूप मे दिखलाई देती है पर कवि की आँखें और उनका मन उसी पर जाकर रम नही रहे। उसमे उन्होंने 'अन्योक्तियाँ' भी कही हैं और कही नर-सृष्टि का आरोप कर केलि-कलाप के चित्र भी खींचे हैं।

'विनय' और 'विभो' में

"संसार को सदय पालत जौन स्वामी।
वा शक्तिमान परमेश्वर को नमामो॥"

और— "है आस चित्त महँ होय निवास तेरो।
होवै निवास मह देव! प्रकाश तेरो॥"

के समान इतिवृत्तात्मक विचार प्रदर्शित हैं।

'बिदाई' म सरस उक्तियाँ भी हैं—

"प्रिय जबही तुम जाहुगे, कछुक यहाँ ते दूरि,
आँखिन मे भरि जायगी, तव चरनन की धूरि।
तुम अपनी ही मूर्ति को, मलिन करहुगे फेरि।
इन पुतरिन पै आपने चरनन के रज गेरि॥
निठुर, हृदय तुम ले चले, इत आँसू के धार।
तेरे पथ को सींचिहै, रखिहै ताहि सँवार॥

. ...

जाहु, हमारे आह ये, रच्छक तुम्हरे पास।
जो, ले ऐहैं खींचि पुनि, तुमको हमरे पास।"

'चन्द्रोदय' मे उत्प्रेक्षा और सन्देह अलङ्कारों की चकाचौंध है। शुद्ध-प्रकृति-वर्णन बहुत कम स्थलो पर मिलता है।

अन्तिम भाग—'मकरन्द-बिन्दु'; भक्ति रस की फुहार बरसा रहा है। इसमें कवित्त और पद तथा कही कही सवैया का प्रयोग है।

'ऐसो ब्रह्म लेइ का करिहैं ?' में 'सूर' और 'नन्ददास' की गोपियों की सगुण भावना भँवरगीत-पद्धति पर प्रकट की गई है।

तातो-तातो कढ़ि रूखे मन को हरित करै।,
ऐ रे मेरे आँसू! तै विश्व तै सरस है।

की अनुभूति 'प्रसाद' को यौवन के प्रथम प्रहर में कसक उठी थी, जो आजीवन उनमे दर्द और सिहरन भरती रही।

चित्राधार में कवि का 'किशोर' जीवन की प्रत्येक दिशा में झाँक रहा है और भावी प्रौढ अभिव्यक्तियों का आश्वासन दे रहा है।

कानन-कुसुम

कवि की संवत् १६६६ के पूर्व की रचनाओं का सग्रह 'कानन-कुसुम' के नाम से पहिली बार प्रकाशित हुआ। दूसरा सस्करण संवत् १६७५ और तीसरा सवत् १६८६ मे छपा। हर सस्करण के समय सग्रह मे परिवर्तन और परिवर्धन होता रहा। हमारे सामने उसका तृतीय सस्करण है। अपनी इन रचनाओं के सम्बन्ध मे कवि ने कहा है—"इसमें रगीन और सादे, सुगन्धवाले और निर्गन्ध, मकरन्द से भरे हुए, पराग मे लिपटे हुए, सभी तरह के कुसुम हैं। असयत भाव से एकत्र किए गए हैं।" कवि की इन पक्तियों मे विनय सत्य के साथ बोल रहा है। चूँकि इस सस्करण की रचनाएँ कवि द्वारा संशोधित, संवर्द्धित और परिवर्तित रूप में प्रकाशित हैं। अतः जो कवि की प्रतिभा के क्रम-विकास का अध्ययन करना चाहेगे, उन्हे भ्रान्ति ही होगी। इस सग्रह में वे कवि को १६८६ की विकास दशा मे पायेंगे। संग्रह मे बाह्यवृत्ति-निरूपक रचनाओं का ही आधिक्य होने पर भी कवि के हृदय का रुदन और उसकी रुझान का आभास मिल ही जाता है। 'प्रथम प्रभात' मे कवि अचानक किसी सौरभ भारवाही मलयानिल के कर स्पर्श की गुदगुदी से जाग उठता है। इस 'स्पर्श' ने कवि के जीवन मे 'प्रथम प्रभात' का उदय कर उनमे आजीवन रस की प्यास भर दी ' प्रतीत होता है, उनके 'प्रिय-मिलन' की घड़ियों की सख्या बहुत थोड़ी रही है। तभी उनकी मर्म-कथा फूट पड़ी है।

"प्रियतम! वे सब भाव तुम्हारे क्या हुए?
प्रेम-कज-किञ्जल्क शुष्क कैसे हुए!

हम ! तुम ! इतना अन्तर क्यों कैसे हुआ ?
हा-हा प्राण-अधार शत्रु कैसे हुआ ?"

प्रतीत होता है कि लोक-प्रमाद से 'प्रिय' मिलन-कुञ्ज की छाया नहीं छू रहा है। निम्न पंक्तियाँ इसी को व्यक्त करती हैं—

रूखे ही तुम रहो, बूँद रस के झरे !
हम-तुम जब एक हैं, लोग बकते फिरें !"

'आँसू' मे भी यही उलाहना है—

"किञ्जल्क जाल हैं बिखरे,
उडता पराग है रूखा।
है स्नेह सरोज हमारा,
विकसा मानस में सूखा।"

प्रकृति का वर्णन यत्र-तत्र प्रकृति को आलम्बन मानकर किया गया है। 'ग्रीष्म का मध्याह्न' में ग्रीष्म की भीषणता चित्र-लिखित ही प्रतीत होती है। 'गङ्गासागर' मे कवि उस 'सागर' के मिलन की कामना व्यक्त करता है, जो अगाध है, अदृष्ट है और है सृष्टि का आदि स्रोत। 'आँसू' के पश्चात् प्रकाशित 'लहर' मे भी "हे सागर संगम अरुण नील" को लक्ष्य कर यही भावना रहस्यमयी अनुभूति के साथ मुखर हो उठी है। 'हिमशैलबालिका' का सागर की ओर अनजान आकर्षण से खिंचकर बहना और सागर का अपनी नियत अवधि को तज लहरों के हासों से उसका स्वागत करना, दोनों के आदि ऐक्य का द्योतक है।

इस प्रकार कवि 'अपनी' भावनाओं में समय-समय पर एक ही रस भर उन्हे विभिन्न रूपों में उड़ेला करते हैं। इससे उनकी अन्तर्धारा के दिशैक्य का स्पष्ट बोध हो जाता है।

'कानन-कुसुम' की रचनाओं की विविधता 'महाकवि तुलसीदास' 'धर्मनीति', 'चित्रकूट', 'भरत', 'शिल्प', 'सौन्दर्य' 'श्रीकृष्ण जयती' आदि तक बिखरी हुई है।

'कानन' के 'कुसुम' निर्गन्ध नहीं हैं पर वे सौरभ के भार को वहन भी नहीं कर रहे हैं।

करुणालय

यह प्रसाद का प्रथम और अन्तिम भाव-नाट्य है। यद्यपि उसे 'इन्दुकला' मे प्रकाशित सूचना में "गीति-नाट्य पर लिखा गया दृश्य काव्य" कहा गया है पर हम इसे गीति-नाट्य इसलिए नहीं कहते कि इसमें गीतात्मकता का प्राबल्य नहीं है—तुकान्त हीन मात्रिक छन्द में वाक्यानुसार विराम चिह्न दिया गया है। तुकान्तविहीन छन्दों मे भी गीतात्मकता आ सकती है, परन्तु इसमें कई स्थल ऐसे हैं जो केवल गति-हीन गद्य ही रह गए हैं—कथा के अंश को जोड़नेवाले। आपके पूर्व स्व० पण्डित अम्बिकादत्त व्यास और स्व० पं० श्रीधर पाठक ने अतुकान्त रचना की थी, परन्तु उसे भावनाट्य का रूप 'प्रसाद' ने ही दिया। 'प्रसाद' के बाद पण्डित उदयशंकर भट्ट ने भावनाट्य की सफल रचनाएँ की हैं। जिनमें मत्स्यगन्धा, विश्वामित्र और राधा उल्लेखनीय हैं। ये वास्तव मे भावनाट्य हैं। इनमें भावावेग के साथ ही कथा की गति बढती है और नाट्य-छटा का दृश्य भी खिंच आता है।

'करुणालय' में नौ पुरुष पात्र और दो स्त्री पात्र हैं। पात्रों की संख्या की अधिकता जो प्रसाद के नाटकों में पाई जाती है उसका सूत्र-पात इस छोटे से नाटक मे ही हो जाता है।

इसका कथानक इस प्रकार है—

एक समय अयोध्या के महाराज हरिश्चन्द्र सूर्यास्त के समय सरयू मे सहचरों सहित नाव पर जल-विहार कर रहे थे। सहसा नाव स्तब्ध हो जाती है और नेपथ्य में गर्जन सुन पड़ता है, "मिथ्याभाषी यह राजा-पाखण्ड है, इसने सुतबलि देना निश्चित था किया। राजकुमार हुआ है अब बलि-योग्य जब तो फिर क्यों उसकी बलि यह करता नहीं? उसका है यह दण्ड, आह! हतभाग्य यह जा सकता है नहीं कहीं भी नाव से"। हरिश्चन्द्र जब अज्ञात देव को अविलम्ब पुत्रबलि देने का आश्वासन देते हैं तब नौका चलने लगती है। वे अपने पुत्र रोहिताश्व को बलि चढने की आज्ञा देते हैं पर रोहिताश्व उनकी आज्ञा भङ्गकर जङ्गल में चला जाता है। जहाँ उसे अजीगर्त, तारिणी और उसके तीन पुत्र

क्षुधार्त रोहिताश्व अजीगर्त से सौ गायों के मूल्य में उसका कथित पुत्र शुनःशेफ बलि के लिए ख़रीद लाते हैं और राजा के सम्मुख उपस्थित होता है। पहले तो हरिश्चन्द्र पुत्र की आज्ञा-भङ्ग के कारण रुष्ट होता है पर वशिष्ठ मुनि के समझाने बुझाने पर शुनःशेफ को बलि पर चढाने की तैयारी की जाती है। बद्ध शुनःशेफ का अन्त करने को बधिक का अस्त्र भी नही उठता—उसका जी रह रहकर बैठने लगता है। इसी समय अजीगर्त पहुँच जाता है और कहता है कि "यदि सौ गाएँ और दो तो मै कर दूँगा काम आपका शीघ्र ही"। शुनःशेफ आकाश की ओर देखकर परमात्मा से प्रार्थना करता है।

"हाय! तुम्हारी करुणा को भी क्या हुआ, जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से।" उसी समय आकाश गरज उठता है। विश्वामित्र अपने सौ पुत्रों सहित वहाँ प्रकट हो जाते हैं और नरबलि की भर्त्सना कर शुनःशेफ को बचा लेते हैं। वही उन्हें ज्ञात होता है कि शुनःशेफ उन्हीं का पुत्र है जिसे उसकी दासी माँ ने लोकविरुद्ध आचरण के कारण अजीगर्त के आश्रम मे प्रसव कर छोड़ दिया था।

करुणालय मे धर्म के नाम पर होने वाले पाशविक अत्याचारों की कटु आलोचना मिलती है। 'प्रसाद' पर बौद्धधर्म की (अहिंसावाद की) कितनी गहरी छाप थी, उनकी इस प्रारम्भिक कृति मे मिल जाती है। वे कहते हैं—"अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया, रे मनुष्य! तू कितने नीचे गिर गया, आज प्रलोभन-भय तुझसे करवा रहे कैसे आसुर कर्म्म! अरे तू क्षुद्र है—और धर्म की छाप लगा कर—मूढ़ तू! फँसा आसुरी माया मे, हिंसा जगी"। जगत् गतिशील है अगति को यहाँ कोई स्थान नही इसीलिए वे कहते हैं—

"चलो पवन की तरह रुकावट है कहाँ,
बैठोगे तो कहीं एक पग भी नहीं
स्थान मिलेगा तुम्हें, कुटिल संसार में।
इच्छित फल की चाह दिलाती बल तुम्हें,
सारे श्रम उसको फूलों के हार से
लगते हैं, जो पाता इंप्सित वस्तु को।

इस तरह हमें 'करुणालय' मे मानवता का स्वर, क्षमा, दया और परोपकार आदि बहुत स्पष्टता से सुन पड़ता है । आगे चलकर 'आँसू' में भी कवि की करुणा वञ्चित, भूखे और निराश नयनों के प्रति जागृत हुई है—

"फिर उन निराश नयनो की,
जिनके आँसू सूखे है
इस प्रलय दशा को देखा
जो चिर वंचित भूखे हैं ।"

प्रेम-पथिक

यह करुणालय के समान अतुकान्त रचना है पर भाव नाट्य नही है कथा-काव्य है । 'प्रसाद' ने पहिले इसे ब्रज भाषा में १९६२ में लिखा था । आठ साल बाद आपने इसे खडी बोली मे परिवर्तित और परिवर्द्धित कर पुनः प्रकाशित किया । काव्य की कथा इस प्रकार है। आनन्द नगर मे दो पड़ोसी मित्र रहते थे । एक की कन्या से दूसरे मित्र के पुत्र का परम स्नेह है । वे दोनों नित्य परस्पर नदी-कूल कुसुम-कुञ्ज में खेला करते, उन्हे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों दो फूल एक ही डाल मे खिले हों । बहुत काल तक दोना इसी तरह आमोद-प्रमोद में पनपते गए । लड़के के पिता ने मरने से पूर्व उसे अपने मित्र को सौप दिया । तब दोनों प्रेमी साथ साथ एक ही गृह में रहने लगे । अब वे दो शरीर और एक प्राण बन गए । सहसा लड़की के पिता ने उसका किसी अन्य युवक से विवाह कर दिया । प्रेमी युवक यह आघात न सह सका; घर से निकल गया, वर्षों भटकता रहा—एक दिन वह थक कर एक कुटी में पहुँचा जहाँ एक तापसी रहती थी । रात को उसने तापसी से जब अपना जीवन-वृत्त कहा तो वह चौंक पड़ी क्योंकि वह वही लड़की थी जिसके साथ वह बचपन मे खेला, हँसा, और अनुरक्त हुआ था । तापसी ने भी अपने वैवाहिक जीवन के कष्ट आदि कहे और अन्त मे दोनों एक होकर अपने जीवन का अरुणोदय देखने लगे ।

प्रेम-पथिक की यह कथा गोल्ड स्मिथ के 'हरमिट' से मिलती जुलती है। परन्तु प्रेम का जो आदर्शमय उज्ज्वल रूप 'प्रसाद' ने प्रस्तुत किया है वह 'हरमिट' में नही दिखाई देता है 'प्रसाद' कहते हैं—

"इस पथ का उद्देश्य नही है, श्रांत-भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नही।"

प्रेम की आग इस जीवन में ही नहीं बुझ जाती—वह सब काल, जन्म जन्मान्तर तक सुलगती रहती है। उसका ध्येय अपने अस्तित्व को मिटा देने में है। और

"प्रियतम मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ
फिर तो वही रहा मन मे, नयनों में, प्रत्युत जगभर में।
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योकि विश्व ही प्रियतम है।" इन

पक्तियों मे प्रेम के व्यावहारिक—लौकिक रूप को सर्वथा विस्मृत कर उसे अलौकिकता के शिखर पर आसीन कर दिया है। जगत के कण-कण मे प्रिय का कम्पन अनुभव करना सचमुच उच्च साधना है. कष्ट कल्पना है।

तभी वे कहते हैं—

"पथिक! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूलकर चलना है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।
प्रेम-यज्ञ मे स्वार्थ और कामना हवन करना होगा।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे।

मित्रता के विषय में कवि की धारणा है कि जिसे हम मित्रता समझते हैं, वह केवल शिष्टाचार रहता है। मुँह देखने पर ही मित्र की बातों में मिठास रहती है। वे कहते हैं—

"कहीं तुम्हारा स्वार्थ लगा है, कही 'लोभ' है मित्र बना
कही 'प्रतिष्ठा', कहीं 'रूप' है, मित्र रूप मे रँगा हुआ
हृदय खोलकर मिलने वाले बड़े भाग्य से मिलते हैं।"

'प्रसाद' नियतिवादी हैं। वे भाग्य को मानव व्यापारों का सचालक मानते हैं। प्रेमपथिक में उनका यह विश्वास निम्न पक्तियों से उच्छ्वसित हो रहा है—

"लीलामय की अद्‌भुत लीला किससे जानी जाती है,
कौन उठा सकता है धुँधला पट भविष्य का जीवन में।
जिस मन्दिर मे देख रहे हो जलता रहता है कर्पूर,
कौन बता सकता है उसमें तेल न जलने पावेगा।
यह भी नही जानता कोई वही महल, आशामय के
विशद कल्पना मन्दिर सा कब चूर चूर हो जायेगा।
कुटिल काल के किस प्रभाव से फिर क्या-क्या बन जावेगा।"

नियतिवादी अदृष्ट शक्ति के प्रत्येक कार्य मे समष्टि का शिव देखता है, उसके प्रति अटूट आस्था रखता है।

"दुःख देखकर अपना ही—
मत समझो सब दुखी जगत को, मत लांच्छन दो ईश्वर को।
शिव समष्टि का होता, इच्छा उसकी पूरी होती है।"

. ...प्रेम पथिक मे वर्णनात्मक और उपदेशात्मक अश अधिक हैं। इसमे स्वभावतः काव्य की बाह्य आत्मकता अधिक है। पथिक और तापसी की आँखों में आँसू देख कवि कहता है—

"नीलोत्पल्ल के बीच सजाए मोती-से आँसू के बूँद,
हृदय-सुधानिधि से निकले हो सब न तुम्हें पहिचान सकें।
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिर दुःखी के परम उपाय,
यह भव-धरा तुम्ही से सिञ्चित होकर हरी-भरी रहती
उन हृदयों को शीतल कर दो जो परितापित है दुःख से।

'आँसू' नामक काव्य मे भी कवि ने यह कामना की है, कि आँसू 'बहुजन हिताय' ही बरसें, अपने दुख से दुखी रहने की अपेक्षा लोक-दुःख को अपना दुःख बनाकर उसमें सहानुभूति प्रदर्शित करना ही सच्ची भावुकता है।

'प्रसाद' ने प्रेमपथिक को अलङ्कारों की विविधता से बोझिल नही बनाया। उन्होने यत्र तत्र कुछ उपमाएँ ऐसी अवश्य प्रस्तुत की हैं जिनमे आधुनिकता की छाया है। जब से हिन्दी साहित्य में क्रोसे के अभिव्यञ्जनावाद की धूम मची है, कवि पुराने अलङ्कारों से मुक्त हो नये नये रूप-विधानों से अपने को व्यक्त करते हैं।

आजकल उपमा के दो प्रकार अधिक प्रचलित हैं, (एक) स्थूल वस्तु की सूक्ष्म से, (दूसरा) सूक्ष्म वस्तु की स्थूल से—दूसरे प्रकार की उपमा के उदाहरण कम मिलते हैं। प्रेम-पथिक में पहले प्रकार की उपमा निम्न पक्तियों में मिलती है—

"सच्चा मित्र कहाँ मिलता है ? दुखी हृदय की छाया-सा।"

दूसरे प्रकार की उपमा 'हिमालय-सा भी जिसका हृदय रहे' में मिलती है। अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना निम्न पंक्तियों में कितनी सुन्दर है—

"चिढ़ जाता था वसन्त का कोकिल भी सुनकर वह बोली,
सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासों के सौरभ से।"

पथिक की प्रेमिका की बोली के सामने वसन्त का कोकिल लजा जाता था। और उसकी श्वासों से निकलनेवाली सुरभि के आगे मलयज की गन्ध निर्गन्ध बन जाती थी। कवियों ने प्रायः मादा कोयल की कूक को ही अपनाया है पर पक्षी-विज्ञानी कहते हैं कि जो कूक हम सुनते हैं वह मादा की नहीं नर कोकिल की होती है 'प्रसाद' को यह तथ्य अवगत था।

कण्व ऋषि के आश्रम की शकुन्तला के समान 'प्रसाद' का पथिक भी अपने नगर को छोड़ते समय 'वहाँ के परिचित वृक्षों से भी विदा लेता है।

"हृदय हुआ था विकसित जिन वृक्षों को कुसुमित देख नितान्त
उनसे भी आलिङ्गन करके किया प्रणाम बिदाई का।"

प्रेम-पथिक सचमुच उदात्त और कोमल विचारों का लघु काव्य है, जिसमें 'प्रसाद' का भावी सुन्दर कवि मुस्कुरा रहा है।

झरना

कवि की संवत् १९७१ से १९७८ तक की रचनाओं के संकलन का नाम 'झरना' है। रचना क्रम से यह 'आँसू' के पूर्व की सृष्टि है। श्री रामनाथ 'सुमन' का कहना है 'इसमें जीवन की विविधता तो है परन्तु एकीकरण और सामञ्जस्य नहीं।' 'पता नहीं' एकीकरण और

सामञ्जस्य मे उनका क्या आशय है ? बिखरी रचनाओं के संग्रह में 'एकीकरण और सामञ्जस्य' तभी मिल सकता है जब कवि जीवन की साधना'विशेष की ओर ही उन्मुख हो और उसकी सारी भावनाएँ विविध रूपों में उसी की ओर केन्द्रित हों। 'झरना' मे एकीकरण 'अवश्य है और वह है' किसी के प्रति आग्रह, विवशता और जिज्ञासा का। 'अपने को खो देने' की भावना का स्वर कई आवरणों के बीच से भी सुन पड़ता है। सौन्दर्य की प्यास किसी 'झरने' की टोह मे व्याकुल है। कवि को 'जलन' से बड़ी आसक्ति है। वे कहते हैं—

"विश्व में ऐसा शीतल खेल,
हृदय मे जलन रहे, क्या बात !
स्नेह से जलती ज्वाला झेल,
बनाली हाँ, होली की रात।"

यह जलन कामना 'आँसू' में भी 'कल्याणी शीतल ज्वाला' के रूप में बोल रही है। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं से सम्बन्ध है वहाँ कवि 'झरने' में भी असामञ्जस्य दोष से युक्त हैं। वे अपनी इस मानसिक प्रवृत्ति को 'झरना' में कलापूर्ण अभिव्यक्ति हर स्थल पर नहीं दे पाए, यह बात दूसरी है। उनका स्वर भाषा के आडम्बर से बोझिल नहीं हो पाया—वह बहुत ही स्पष्ट है—एकान्त है, जहाँ 'दो' की साँसें ही बह रही हैं। मन का उद्दाम वेग फूट पड़ा—

"निभृत था—पर हम दोनों थे,
वृत्तियाँ रह न सकीं फिर दान्त।
कहा जब व्याकुल हो उनसे—
"मिलेगा कब ऐसा एकान्त ?"
हाथ मे हाथ लिया मैंने
हुए वे सहसा शिथिल नितान्त।
मलय ताडित किसलय कोमल,
हिल उठी उँगली, देखा; श्रान्त।"

और भी— "किसी पर मरना यही तो दुख है!
'उपेक्षा करना' मुझे भी सुख है।"

कहीं कहीं तो इतनी अधिक प्रासादिकता है कि वही उसका 'दोष' बन गई है—

"जलन छाती की बड़ी सहता हूँ,
मिलो मत मुझमें यही कहता हूँ;
बड़ी हो दया तुम्हारी।
तुम रहो शीतल हमें जलने दो,
तमाशा देखो हाथ मलने दो;
तुम्हे है शपथ हमारी।"

जहाँ 'झरना' मे साधारण कोटि की गद्यात्मक रचनाओं का आधिक्य है, वहाँ जलद गम्भीर, रस वर्षी गीतों का कल-निनाद भी है। प्रथम रचना 'झरना' ही हममे कुतूहल भर देती है—'तब अपाङ्ग की धारा' से तन-मन भींग उठता है। इसमें हर्षोन्माद झर-झर बहता हुआ मानो आँखों मे छा रहा हो।

अदृष्ट वस्तु की स्मृति रहस्यवाद की प्रथम प्रेरणा है, जो इस रचना की कतिपय पंक्तियों मे प्रतिध्वनित सी जान पड़ती है।

सन्त वाणी मे इसे 'सुरति' कहते हैं।

'अव्यवस्थित' मे मन की चञ्चलावस्था का अच्छा चित्रण है—

"विश्व के नीरव निर्जन में।
जब करता हूँ बेकल, चंचल,
मानस को कुछ शांत,
होती है कुछ ऐसी हलचल,
हो जाता है भ्रांत;
भटकता है भ्रम के बन में,
विश्व के कुसुमित कानन में।"

मैथिलीशरण ने भी 'पञ्चवटी' में इसी भाव को एकान्त होने पर भी 'जन मन मौन नहीं रहता' कहकर साक्षी भरी है।

मन के चांचल्य का वर्णन भी कितना यथार्थ है—

"जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
कर सङ्कलित विचार,
तभी कामना के नूपुर की,
हो जाती झनकार।"

'बालू की बेला' में 'प्रिय' के आँख चुराकर ओझल हो जाने के निठुर व्यापार पर करुण खीझ मे कितना आग्रह है—

"आँख बचाकर न किरकिरा कर दो इस जीवन का मेला।
कहाँ मिलोगे ?-किसी विजन मे ?-न हो भीड का जब रेला॥
कहते हो 'कुछ दुःख नहीं', हाँ ठीक, हँसी से पूछो तुम।
प्रश्न करो टेढ़ी चितवन से, किस किस-को किसने झेला ?"

अन्तिम मनुहार आँसुओं से सिक्त है—

"निठुर इन्हो चरणो मे मैं रत्नाकर हृदय उलीच रहा।
पुलकित, प्लावित रहो, बनो मत सूखी बालू की बेला।"

('बालू की बेला' से लक्ष्य 'शुष्कता' की ओर है।)

'कब' की जिज्ञासा में 'उसके' अभाव से हृदय की शुष्कता में प्रेम-जलद घनमाला की बूँदों का अधीर आह्वान है—

"लम्बी विश्व कथा में सुख निद्रा समान इन आँखो में—
सरस मधुर छवि शान्त तुम्हारी कब आकर बस जावेगी ?"

उत्कण्ठा, प्यास, उपालम्भ आदि की भीड़ों के अतिरिक्त 'झरना' मे 'प्रकृति' के भी चित्र हैं पर उनमें कवि के हृदय में लहराने वाले मदिरभाव ही छलक पडे हैं। 'पावस-प्रभात' की बीती रात मयख़ाने की महफिल का विलास लिए है और प्रभात उषा के घूँघट से बिखरने वाले अपाङ्गो से रक्तवर्ण हो गया है। वसन्त की प्रतीक्षा मे कवि अपनी आँखों के 'वसन्त'-दर्श की कामना समेटे हुए व्यस्त हैं।

"झरने" को "किसी हृदय का यह विषाद है,
छेडो मत यह सुख का कण है।
उत्तेजित कर मत दौडाओ,
करुणा का विश्रान्त चरण है॥"

कह कवि ने अपने में ही प्रवाहित होनेवाले स्रोत का आरोप कर उसे सप्राण बना दिया है।

कला की दृष्टि से 'झरना' मे छन्दों के विभिन्न प्रयोग हैं, प्रचलित छन्दों के अतिरिक्त कवित्त हैं, पद हैं और अतुकान्त रचना भी। 'झरना' मे कवि अपनी भावनाओ को दृढता से मुखरित कर सका है। 'स्वप्नों' को 'कला' के कमनीय आवरण मे छिपाने की कला मे वह सफल नहीं हो पाया—यह बात इसके पश्चात् प्रकाशित होनेवाले 'आँसू' मे खूब सध सकी है।

आँसू

'प्रसाद' हिंदी के भावुक कवि और कुशल कलाकार हैं। इसे कोई यदि उनकी एक ही रचना में देखना चाहे, तो उसे 'आँसू' की ओर ही इङ्गित किया जा सकता है। 'आँसू की ओर महसा आकर्षण के दौड़ने के दो ही कारण हैं—एक तो, उसमे प्रेम की स्मृति इतनी सत्यता के साथ अभिव्यक्त हुई है कि हमारा कवि के साथ अविलम्ब साधारणीकरण हो जाता है—हम कवि की स्मृति के साथ अपनी सोई हुई वेदना को अपनी ही आँखों में छाई हुई पाते हैं जो उनके आँसुओं के साथ ही बहने लगती है। दूसरा गुण है, उसकी अभिव्यञ्जना-प्रणाली। यद्यपि 'बिहारी' के दोहों में 'गागर मे 'सागर' लहर चुका था पर 'प्रसाद' ने 'सागर' को इतना प्रच्छन्न रखा है कि वह हर पात्र मे समाकर भी अपनी असीमता कायम रखता है। इतनी व्यापक अभिव्यक्ति है उसमें। तभी स्व० आचाय प० रामचद्र शुक्ल ने कहा है ('आँसू' मे) "अभिव्यञ्जना की प्रगल्भता और विचित्रता के भीतर प्रेम-वेदना की दिव्य विभूति का, विश्व में उसके मङ्गलमय प्रभाव का, सुख और दुःख दोनों को अपनाने की उसकी अपार शक्ति का और उसकी छाया मे सौन्दर्य और मङ्गल के सङ्गम का भी आभास पाया जाता है।"

श्री इलाचद्र जोशी के शब्दों में 'प्रसाद' जी की आँसुओ की पंक्तियों ने हिन्दी-जगत को प्रथम बार उस वेदनावाद की मादकता से विभार किया जिससे बाद में सारा छायावादी युग मतवाला हो उठा

था। वेदना की भयंकर बाढ़ मे सारे युग को परिप्लावित कर देने की जैसी क्षमता 'प्रसाद' जी के इन आँसुओं में रही है वह हमारे साहित्य के इतिहास मे वास्तव में अतुलनीय है।"

हम तो यहाँ तक कहेंगे कि यदि आँसू का प्रकाशन न होता ता 'छायावाद' की भूमि ही अनिर्दिष्ट रह जाती। अन्तर्भावनाओं की—उन भावनाओं की जो यौवन को झकझोरा करती हैं—अभिव्यक्ति स्पष्ट न हो पाती। यह छायावाद—युग की प्रतिनिधि—रचना है। "कामायनी" मे काव्य दार्शनिकता का स्पष्ट आवरण भी ओढ़े हुए है। "आँसू" की दार्शनिकता प्रासङ्गिक है। और वह वहीं ऊपर उठती है जब हम 'आँसुओं' का अन्तिम 'ढरना' देखते हैं—कवि उन्हें व्यापक बनाने को अपनी ही व्यथा के आघात तक सीमित न रखकर विश्व-पीड़ा के साथ समरस बनाना चाहते हैं। यों तो प्रारम्भ के आधे से अधिक छन्दों मे हम केवल काव्य और कला का ही सौन्दर्य देखते हैं और मुग्ध हो उठते हैं। हम उन्हीं की 'ध्वनि' को मानो अपने मे ही सुनने लगते हैं—'कवि, तुम अपने जरा से पात्र मे इतना रस कहाँ से भर लाए! जो बरबस समा नहीं रहा है—हम चकित हैं, समझ नहीं पाते—ऐसा मधुवन तुममे कहाँ छिपा था!'

आचार्यों ने कविता के तीन पक्ष माने हैं। वे हैं—(१) भाव-पक्ष (२) विभाव-पक्ष और (३) कला-पक्ष। भाव-पक्ष से कवि का हृदय उद्वेलित होता है, विभाव-पक्ष हृदय के उद्वेलन का कारण है, और कला-पक्ष भाव-पक्ष का व्यक्त रूप है।

'आँसू' का आलम्बन—सबसे पहले हम 'आँसू' के विभाव-पक्ष पर दृष्टिपात करेंगे—यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि कवि के हृदय को कहाँ से ठेस पहुँच रही है, उसकी भावनाओं का आलम्बन क्या है?

'आँसू' की पूर्व-रचना 'झरना' मे कवि ने गाया था—

"कर गई प्लावित तन मन सारा।
एक दिन तव अपाङ्ग की धारा॥
हृदय से झरना—
बह चला, जैसे दृगजल ढरना।

प्रणय-वन्या ने किया पसारा,
कर गई प्लावित तन मन सारा।"

इस 'तव' में किसकी ओर संकेत है ? किसके कटाक्ष-रस से सारा तन मन प्लावित हो उठा ? यह 'तव' 'यहाँ' का—इहलोक का—हाड़ मॉस का पुतला हो सकता है और उस लोक का भी जो केवल कल्पना में ही स्थित है—जिस तक हमारी वृत्तियाँ सहज केन्द्रित होना नहीं चाहतीं; नहीं जानतीं।

'प्रसाद' के एक आलोचक लिखते हैं—"जीवन के प्रेम-विलास-मय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे उस 'प्रियतम' के संयोग-वियोगवाली रहस्य-भावना में—जिसे स्वाभाविक रहस्य-भावना से अलग समझना चाहिए—प्रायः रमते पाये जाते हैं। प्रेम-चर्चा के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं (अश्रु, स्वेद, चुम्बन, परिरम्भण, लज्जा की दौड़ी हुई लाली इत्यादि), रँगरेलियों और अठखेलियों, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जमती थी। इसी मधुमयी प्रवृत्ति के अनुरूप उनकी प्रकृति के अनन्त क्षेत्र मे भी वल्लरियों के दान, कलिकाओं की मन्द मुस्कान, सुमनों के मधु-पात्रों पर मँडराते मलिन्दों के गुञ्जार, सौरभ, हर समीर की लपक-झपक, पराग-मकरन्दकी लूट, ऊषा के कपोलों पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरम्भ, रजनी के आँसू से भीगे अम्बर, चन्द्रमुख पर शरद्घन के सरकते अवगुण्ठन, मधुमास की मधु-वर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी।" दूसरे आलोचक भी इसी बात को इन शब्दों में कहते हैं—" 'प्रसाद' जी का काव्य मूलतः मानवीय है।" इसके विपरीत ऐसे भी आलोचक हैं, जो 'प्रसाद' की रचनाओं में रहस्यवाद ही पाते हैं; किन्तु शुद्ध रहस्यवादी रचनाओं में 'अन्नमय कोष' के प्रति विरक्ति पाई जाती है; चैतन्य मनोमय और 'आनन्दमय' कोषों में 'एकता' का अनुभव करता है। अन्तिम कोटि की रचनाएँ चाहे जो कहलाएँ, काव्य के अन्तर्गत नहीं आतीं। उनसे बुद्धि का कौतूहल दूर हो सकता है, हृदय की प्यास नहीं मिटती।

'आँसू' में व्यक्त के प्रति ही आकांक्षा प्रकट की गई है। इसमें अन्नमय कोष का—स्थूल सौन्दर्य का—आकर्षण प्रबल है, जो निम्न उद्धारों से स्पष्ट है :—

(१) इस हृदय-कमल का घिरना
अलि-अलको की उलझन मे।

(२) बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरो से।

(३) थी किस अनङ्ग के धनु की
वह शिथिल शिञ्जिनी दुहरी।
अलबेली बाहु-लता या
तनु छबि-सर की नव लहरी ?

आदि शब्दों में 'स्थूल शरीर' का नख-शिख वर्णन ही है। अतः 'आँसू' का आधार ससीम व्यक्ति है, जिसके मिलन-सुख की स्मृति ने कवि के हृदय में वेदना-लोक की सृष्टि की है। यह अवश्य है कि कवि ने यत्र-तत्र परोक्ष का संकेत कर उसे अलौकिकता की आभा से दीप्त करने का प्रयास किया है, जिससे ऐसा भासने लगता है कि कवि का उस 'विराट' से साक्षात्कार हो चुका है। निम्न पक्तियों मे कुछ ऐसा ही संकेत है—

(१) कुछ शेष चिह्न हैं केवल,
मेरे उस महामिलन के।

(२) आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी।

परन्तु इन सकेतों के विद्यमान रहते भी रचना का आधार एकदम पारलौकिक नही माना जा सकता। प्रेमी के लिए उसके प्रिय का क्षणिक मिलन—ऐसा मिलन, जिसे वह अन्तिम समझ चुका है—'महा-मिलन' ही है, और 'आँसू' की 'स्मृतियों की बस्ती' में तो हमें प्रिय की पार्थिव अङ्ग शोभा ही नहीं, 'प्रेमी' और 'प्रिय' के शरीर व्यापारों की झाँकी भी मिलती है—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा,
निश्वास मलय के झोंके।

मुख-चन्द्र चाँदनी-जल से ,
मैं उठता था मुँह धोके !

इसके साथ ही जब हम यह पढ़ते हैं—

निर्मम जगती को तेरा ,
मङ्गलमय मिले उजाला ।
इस जलते हुए हृदय की ,
कल्याणी शीतल ज्वाला ?

तब ज्ञान पड़ता है, आँसू का 'आलम्बन' जन-समूह भी है ।

तो क्या हम यह मान लें कि 'आँसू' की वेदना की 'कोई निर्दिष्ट भूमि नहीं' और 'उसका कोई एक समन्वित प्रभाव निष्पन्न नहीं होता' ? पुस्तक को ऊपरी दृष्टि से—सरसरी तौर पर—देखा जाय, तो ये आक्षेप ठीक प्रतीत होंगे; किन्तु उसकी मनोभूमि में प्रविष्ट होने पर हमें उसमें जीवन की एक मनोवैज्ञानिक कहानी अन्तर्हित दिखलाई देती है ।

'आँसू' के नायक को 'दुर्दिन'* में अपने गतवैभव—विलासपूर्ण जीवन का स्मरण हो आता है; उसकी प्रेयसी की मदमाती छवि उसकी आँखों में बस जाती है । उसे याद आता है, मानों 'हाफ़िज़' के शब्दों में 'माशूकों' के जमाव में सम्राट् एक ही था । गिनती में वे हज़ारों थे, मगर उसके दिल को चुरानेवाला एक ही था ।'√ स्मृति के जाग्रत होते ही वह उदास हो जाता है—अपने 'प्रिय' के प्रथम आगमन—प्रथम परिचय—की अवस्था को रह रहकर विसूरने लगता है । कभी सोचता है, वह इस पृथ्वी की न थी, स्वर्गिक आभा थी, जो उससे मिलने को नीचे आई थी । † उसका 'मधुराका' को लजानेवाला 'मुख' देखते ही वह उसकी ओर खिंच गया था । Love at first sight ÷ इसी को कहते हैं । उसमें वह अपना अस्तित्व ही

* जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई ,
दुर्दिन में 'आँसू' बनकर वह आज बरसने आई ।

√ थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में ।

† गौरव था, नीचे आए मिलने को प्रियतम मेरे ।

÷ परिचित-से जाने कब के, तुम लगे उसी क्षण हमको !

भूल गया। उसने उस पर पूर्ण अधिकार जमा लिया। * जब मनुष्य के मन में किसी की स्मृति तीव्रतम हो उठती है, तो वह स्मृति के आधार की आकृति, उसकी बातों, उसके व्यापारों—कार्य-कलाप—का बहुत विस्तार के साथ मनन करने लगता है। तभी हम 'आँसू' के नायक को अपने 'प्रिय' के शारीरिक सौन्दर्य-वर्णन मे—नहीं, नहीं, उसके साथ मिलन-क्रीड़ाओं का उल्लेख करने में भी—हर्ष-विकम्पित पाते हैं। 'चाँदनी' की चाँदी भरी रातें सुख के सपनों की अधिक समय तक उसके 'कुञ्ज' में वर्षा नहीं करने पाईं। वह 'प्रिय' से बिछुड़ जाता है और वह उससे मुँह भी मोड़ लेती है। △ तब उसका हृदय स्वभावतः जलता है, तड़पता है। उसमें आशा-निराशा की आँख-मिचौनी-सी होती रहती है। जब सशरीर अपने निकट उसे देखने की आशा का अन्त हो जाता है, तब वह प्रकृति के व्यापारों द्वारा उसके सान्निध्य-सुख का अनुभव करने लगता है:—

शीतल समीर आता है, कर पावन परस तुम्हारा।
मैं सिहर उठा करता हूँ, बरसा कर आँसू-धारा॥

जैसे उद्गार इसी परिस्थिति के द्योतक हैं—

फिर वह अपनी स्थिति से ही सन्तुष्ट होने का प्रयत्न करता है—

निष्ठुर! यह क्या, छिप जाना? मेरा भी कोई होगा
प्रत्याशा विरह-निशा की हम होंगे औ' दुख होगा।

'दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना' के अनुसार वह निराशा को त्याग देता है। दुखी मनुष्य का दुख दूसरों के दुख को देखकर घट जाता है। 'आँसू' के नायक ने जब देखा कि संसार में वही दुखी नहीं है, उसके चारों ओर मानव-जाति पीड़ा से कराह रही है, तब वह अपनी व्यथा को भूलने लगता है, दूसरों के दुःख-दर्द मे

---

* पर समा गये थे मेरे मन के निस्सीम गगन मे।

△ छिप गईं कहाँ छूकर वे, मलयज की मृदुल हिलोरें।
क्यो घूम गईं हैं आकर, करुणा-कटाक्ष की कोरें॥

आँसू

अपनी सहानुभूति प्रकट करने लगता है और प्रकृति से भी प्रार्थना करता है कि वह भी ससार के दुख को कम करने मे सहायक बने। वह अपनी वेदना से भी कहता है—तुम अपनी ही उलझनों को सुलझाने मे व्यग्र न रहो; अपने ही अभावों मे न जलो। तुम्हारे चारों ओर जो हाहाकार मचा हुआ है, उसे भी अनुभव करो। संसार के सभी दुखी प्राणियों के दुःख में अपने आँसू बहाओ।

'आँसू' मे मानव-जीवन का व्यक्ति का समष्टि की ओर विकास भी दिखलाई देता है। पहले हम भौतिक सौन्दर्य की ओर एकदम खिच जाते हैं, उसी को परमात्मा मान लेते हैं—स्वर्ग और परलोक की सारी कल्पनाओं का उसी में आरोप कर देते हैं। उसकी आराधना में ही हम सब कुछ भूल जाते हैं। हमारी दुनिया 'दो' ही मे समा जाती है। परन्तु जब भौतिक सुख छिन जाता है, तो हम पहले तो उसकी याद मे तड़पते हैं, रोते हैं, आशा निराशा में उतराया करते हैं और फिर ज्यों-ज्यों उसके अप्राप्य बनते रहने की सम्भावना बढती जाती है, हमारी मोह-निद्रा टूटती जाती है। हम वस्तु-स्थिति को पहचानते हैं और अपनी सहृदयता को अपनी ही ओर केन्द्रित न रखकर संसार मे बिखेर देते हैं। लोक-कल्याण में हम अपने जीवन का अन्तिम ध्येय अनुभव करने लगते हैं। दूसरे शब्दों मे 'आँसू' मे पहले उठते यौवन की मादकता—बेचैनी, फिर प्रौढता का चिन्तन और अन्त मे ढलती आयु का निर्वेद दिखलाई देता है।

'आँसू' की 'आत्मा' को देखने पर उसमें तारतम्य जान पड़ता है। अतः 'प्रबन्धमय' है। पर 'आँसू' के अनेक पद्य ऐसे भी हैं कि उन्हीं पर मन को केन्द्रित करने से वे प्रत्येक अपने में 'पूर्ण' प्रतीत होते हैं। इस तरह, 'आँसू' उस 'मोतियों' की लड़ी के समान है जिसका प्रत्येक 'मोती' पृथक रहकर भी चमकता है और लड़ी के तार मे गुँथकर भी 'आब' देता है। वस्तुतः उसमें मुक्तत्व और प्रबन्धत्व दोनों हैं।

भाव-पक्ष

हमारे हृदय में अनेक भावों की स्थिति है; परन्तु वे कुछ एक—नौ—में परिगणित कर लिए गए हैं और वे ही हमारे मूल भाव माने

जाते हैं। शेष समय-समय पर तरङ्गित हो उठते हैं। साहित्य में वे ही भाव—वे ही भावनाएँ—मान्य हैं, जो अपने 'आश्रय' के 'सुख-दुख' तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत् जिनकी व्याप्ति विश्व में समाई हुई है; जो केवल कवि में ही उदित नहीं होते, समान परिस्थिति में अन्य व्यक्तियों मे भी जाग उठते हैं। दूसरे शब्दों मे, जिन भावों मे 'साधारणीकरण' की अवस्था पैदा करने की सामर्थ्य नहीं, वे व्यक्ति-विशेष के भाव हो सकते हैं, साहित्य के नहीं।

'प्रसाद' के 'आँसू' उनकी ही आशा-निराशाओं के 'स्फुल्लिङ्ग' नहीं हैं। उनमें हमारी आशाएँ-निराशाएँ भी प्रतिबिम्बित जान पड़ती हैं। वे हममे पीड़ा भरकर भी अनिवर्चनीय 'आनन्द' की सृष्टि करते हैं। परन्तु 'आँसू' के भावों की एक विशेषता है--वे सीधे निःसृत होकर सीधे ही प्रविष्ट नहीं होते। वे कला का सुन्दर अवगुण्ठन डाल-कर आते हैं। जब तक हम कवि के सश्रम निर्मित अवगुण्ठन को पह-चान नहीं पाते, वे हमारे मन मे 'रस बूँद' नहीं बरसा पाते; हमे आत्मविभोर नहीं बना पाते। यही कारण है, 'आँसू' में बहुतों को दुरूहता दिखाई देती है। सच बात तो यह है कि अप्रच्छन्न होकर 'प्रसाद' ने बहुत कम कहा है। कई बार वे शब्दों का चित्र खींचकर ओझल हो जाते हैं और हमे अपनी भावनाओं का रङ्ग भरने को स्वतन्त्र छोड़ देते हैं। कभी कभी ऐसा भी प्रतीत होने लगता है कि कवि स्वयं अनुभव नहीं कर रहा है, उसकी बुद्धि अनुभव का अभिनय कर रही है। जहाँ कवि अपनी 'मींड़' को भूल जाता है, वहीं उसकी बुद्धि जाग उठती है और विवेक के गीत गाने लगती है। अँगरेजी का प्रसिद्ध आलोचक 'रिचार्ड्स्' आधुनिक श्रेष्ठ कवि टी० एस० ईलियट की रचनाओं के सम्बन्ध में लिखता है कि 'उसके काव्य में विचारों का सङ्गीत झरता है' ("His Poetry can be called a Music of ideas . ... they are there to be responded to, not to be pondered or worked out")

जिसके साथ हमारा मन चिन्तनशील नहीं बनता, 'बहता' है। 'आँसू' में जहाँ बुद्धितत्त्व है, वह इसी कोटि का है। कवि जहाँ अपनी

वेदना को विश्व मे बिखेरने के लिए अपने चारों ओर ऑंखे दौड़ाते हैं, वहॉ उनमे भावावेश (Emotion) का वह अश सो जाता है जिसका संसार अपने तक ही रहता है। 'बुद्धि' ही बहिर्मुखी बनाती है। 'कवि' के बहिर्मुखी होने पर भी उनके गीतों मे शुष्कता नहीं रहती। संसार की स्वार्थपरता और कृतघ्नता पर ये पंक्तियॉ क्या हमारे मर्म-तन्तुओं को नहीं हिलातीं ?—

"कलियों को उन्मुख देखा,
सुनते वह कपट कहानी।
फिर देखा उड़ जाते भी,
मधुकर को कर मनमानी।"

इनमे कोई उपदेश नही है, आदेश नहीं है। फिर भी वे 'बुद्धि' पर विचार का भार न लादकर भी हमें उपदेश देती हैं और निर्देश भी। पर 'उपदेश' और 'निर्देश' हमारा अचेतन मन ही ग्रहण करता है।

हम पहिले कहीं कह आये हैं कि 'प्रसाद' समय की व्यापक चेतना के प्रति जागरूक रहे हैं। अतः जहॉ 'ऑसू' में उनकी करुण अनुभूति की सिसक और कसक है, वहाँ 'चिर-वञ्चित भूखों की प्रलय दशा' ने भी उनकी ऑखों को गीला बनाया है। यही जागरूकता ही मन के तोल को सॅभालती है—बुद्धि के उदय का आभास देती है।

'ऑसू' का मुख्य भाव विरह-शृंगार है जो 'करुणा' के सिञ्चन से निखर गया है और लोक-कल्याण की शान्त कल्पना से पूत हो उठा है। 'ऑसू' के पूर्व ही 'राज्यश्री' में कवि का अन्तर स्वर सुन पड़ा था—

"दुःख परितापित धरा को,
स्नेह जल से सींच।
स्नान कर करुणा - सरोवर,
धुले तेरा कीच॥"

विरह मे 'स्मृति' का ही प्राधान्य होता है; अतः 'ऑसू' मे हम 'प्रेमी' और 'प्रिय' के मिलन-सुख का भी रङ्गीन चित्र पाते हैं, जो 'काव्य' में सम्भोग-शृंगार कहलाता है। 'परिरम्भ-कुम्भ की मदिरा'

आदि पद्यों की तन्मयता भवभूति की राम-सीता-मिलन का निःश्वास छोड़ रही है, कितनी दृढ़, कितनी मधुर! 'प्रिय' के नखशिख वर्णन मे यद्यपि सर्वथा नूतनता नहीं है फिर भी 'आँखों की अञ्जन रेखा' के आकर्षण में 'काले पानी की सजा' की सूझ 'प्रसाद' के मस्तिष्क मे ही उग सकती थी।

'प्रिय' के प्रथम दर्शन में मधुराका की मुस्कुराहट खेल रही थी— इतना सौन्दर्य 'शून्य हृदय' को आत्म-विभोर बनाने के लिए बहुत था। तभी वह एकदम उसके साथ 'एक' हो गया और कहने लगा—

"परिचित से जाने कब के,
तुम लगे उसी क्षण हमको।"

आकर्षण की तीव्रता की यही अनुभूति हो सकती थी। यद्यपि 'अनुभूति' की यह व्यञ्जना पहिले पहल 'प्रसाद' ने नहीं की पर इसमे सन्देह नहीं 'अनुभूति' उनकी 'उधार' ली हुई नहीं है।

'आँसू' में वाह्य-प्रकृति स्वतन्त्र रूप से प्रायः आँखें नही खोल सकी; वह अन्तर-प्रकृति से मिलकर उसे खिलाने मे सहायक मात्र हुई है।

'सिरस' का फूल 'कुसुमाकर'-रजनी के पिछले पहरों मे खिल और प्रातः धूल में मिलकर 'प्रेमी' के मन की रात और प्रातःकालीन अवस्था को ही प्रकट करता है। कवि की दृष्टि प्रकृति के व्यापारों पर जाकर शीघ्र ही अपने में लौट आती है, मानो उसे वहाँ कोई भूली चीज़ याद आ गई हो और उसे पाने को वह विह्वल हो अपने घर की ही छान बीन कर रहा हो। 'रात' का आशिक वर्णन अवश्य भाव और कल्पनापूर्ण है, उसके स्पर्शहीन अनुभव का स्पन्दन अपूर्व है—

"तुम स्पर्श हीन अनुभव सी,
नन्दन तमाल के तल से।
जग छा दो श्याम - लता सी,
तन्द्रा पल्लव विह्वल से।
सपनों की सोनजुही सब,
बिखरे, ये बन कर तारा।

सित - सरसिज से भर जावे,
वह स्वर्गङ्गा की धारा।"

पर 'प्रसाद' निशा के अमानव रूप पर अपने को अधिक समय तक नहीं ठहरा सके—उन्होंने उसे 'नीलिमा शयन' पर आसीन कर 'अपाङ्ग' की चेष्टाओं मे रत कर ही दिया—वह एक वैभवशालिनी नेत्रों में कटाक्ष भरी सुन्दरी बनकर चित्रित हो जाती है।

"नीलिमा शयन पर बैठी
अपने नभ के आँगन में
विस्मृति का नील नलिन रस,
बरसो अपाङ्ग के घन से।"

कला-पक्ष

इसमे भावों की अभिव्यक्ति का रूप सामने आता है। भावों की अभिव्यक्ति भाषा द्वारा होती है। तथा भाषा शब्दों से बनती है, जिनकेथ अकी दृष्टि से तीन भेद हैं—(१) वाचक, (२) लक्षक और (३) व्यञ्जक। वाचक शब्दों से उनका कोषादि में वर्णित अर्थ प्रगट होता है। लक्षक शब्दों से वाचक अर्थ नही, उससे सम्बन्धित रूढि या प्रयोजन से दूसरा अर्थ प्रकट होता है। जो अर्थ वाचक शब्द से प्रगट होता है, उसे शब्दों की अभिधा शक्ति का परिणाम कहा जा सकता है, और जो अर्थ लक्षक शब्दों से जाना जाता है, उसे शब्दों की लक्षणा-शक्ति का फल कहा जाता है। जो अर्थ शब्दों की अभिधा या लक्षणा-शक्ति से प्रगट न होकर प्रसग, सदर्भ आदिसे प्रगट होता है, उसे व्यञ्जना-शक्ति का परिणाम कहा जाता है। 'आँसू' में शब्दों की लक्षणा-शक्ति से विशेष काम लिया गया है। उसमें हमारे परिचित सृष्टि के सादृश्य और साधर्म्य व्यापारों के साम्य दिये गये हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि कवि ने 'सार्वभौमिक प्रतीकों को अधिक अपनाया है'—जैसे सुख दुख के लिये क्रमशः चन्द्रिका और अन्धेरी; भावनाओं के लिये 'कलियों' 'लहर' आदि के प्रभाव साम्य मिलते हैं। कवि ने स्थूल के सूक्ष्म उपमान भी यत्र-तत्र रखे हैं। व्यापारों का वर्णन कर वे भावों का चित्र भी अच्छा खींचते हैं।

'आँसू' में इस तरह हमे भावावेग कल्पना के साथ उड़ता हुआ दिखाई देता है। कवि ने अपने भावो को अलकृत करने मे बड़े कौशल का परिचय दिया है। उपमा, रूपक और विरोधाभास जगह जगह जड़े हुए दिखाई देते हैं। तभी हमने प्रारम्भ में कहा है कि स्वर्गीय 'प्रसाद' हिन्दी के भावुक कवि और कुशल कलाकार हैं, इसे यदि कोई उनकी एक ही रचना मे देखना चाहता है तो उसे 'आँसू' की ओर इङ्गित किया जा सकता है।*

लहर

'आँसू' के पश्चात् 'लहर' का प्रकाशन हुआ। इसमे समय समय पर विभिन्न विषयों पर लिखी रचनाओं का संग्रह है। प्रवृत्ति की दृष्टि से वे अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों हैं। अन्तर्मुखी रचनाओं मे भी दो भेद हैं—(१) जिनमे 'परोक्ष' के प्रति सङ्केत है और (२) जिनमे लौकिक आलम्बन के प्रति उद्गार हैं। बहिर्मुखी रचनाओं में ऐतिहासिक घटनाओं पर भावना केन्द्रित की गई है।

'प्रसाद' जहाँ परोक्ष के प्रति सङ्केत करते हैं, वहाँ उनका 'माधुर्य भाव' उसे नीरस नहीं रहने देता। सच बात तो यह है कि वे 'परोक्ष' को इतना प्रत्यक्ष कर देते हैं कि वह हमारे बीच ही 'आँख मिचौनी' सा खेलता दीख पड़ता है।

'निज अलको के अधकार में तुम कैसे छिप आओगे ?' में प्रिय के प्रति भौतिक काक्षा ही दीख पडती है जो इन पक्तियों में स्पष्ट है:—

'सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरो से पकडो,
वेला बीत चली है चचल बाहुलता से आ जकडो'।

पर कुछ विवेचक आगे 'तुम हो कौन और मै क्या हूँ' पढकर इसमें अदृष्ट के प्रति जिज्ञासा पाते हैं। 'मेरे क्षितिज!' सबोधन से भी 'अलौकिकता' की ओर दृष्टि दौडाने की

---

*आँसू के पद्यो के भाव और उनकी कला पर पृथक विचार किया गया है। अतः यहाँ इन पद्यो का सविस्तर विवेचन पिष्ट पेषण के भय से नहीं किया गया।

आवश्यकता नहीं है। जो 'अप्राप्य' है वह चाहे लौकिक हो या अलौकिक—'क्षितिज' तुल्य ही है। कवि अपने अप्राप्य 'केन्द्र' को मन में हमेशा बसा रखने को आतुर है। कवि ने—

"तुम हो कौन और मैं क्या हूँ ?
इसमें क्या है धरा, सुनो।
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित—
मेरे क्षितिज ! उदार बनो।"

के पूर्व अपने 'आलम्बन' से 'बाहुलता' में आ जकड जाने की मनुहार भी की थी। इस तरह कवि ने अपने आलम्बन मे 'परोक्ष' और 'प्रत्यक्ष' को इतना अधिक घुला मिला दिया है कि उनकी 'दुई' ही मिट गई है। इस रचना का सौन्दर्य आलम्बन को 'नारी' रूप में ग्रहण करने से ही खिलता है और इसी रूप में उसमें चित्रात्मकता आती है। 'प्रिय' और 'प्रेमी' की आँखमिचौनी की कितनी मधुर क्रीडा है।

संघर्षमयी जगती से खिन्न होकर कवि सर्वथा अन्तर्मुख होना चाहते हैं जब वे गाते हैं—

"ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे धीरे !
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों मे गहरी—
निश्छल प्रेम - कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे !"

कवि अपने ही वातावरण में 'छल' की साँस बहते देख रुद्ध कण्ठ हो गये हैं—कितनी विरक्ति है इन उद्गारों में।

"उस दिन जब जीवन के पथ में' कवि ने गाया तब छलमयी जगती से 'रस' की भीख माँगना उन्होंने छोड दिया है। उसने देखा उसी के भीतर रस का सागर लहरा रहा है ; इतना अधिक वह स्वय उसे उलीच सकता है।

चूँकि यह मुक्तक रचनाओं का संग्रह है इसलिये इनमें स्वभावतः एक ही मानसिक स्थिति की प्रतिध्वनि नहीं है। इसमे बीती मधुमय रातो की उसासें भी हैं।

अधरों मे अमन्द राग पिये सोई 'आली' को उषः काल के वैभव को गाकर जगाने की भी हौस हँस रही है।

'अरी बरुणा की शान्त कछार', 'जगती की मगलमयी उषा बन', 'अशोक की चिन्ता', 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया' बहिर्मुखी रचनाओं के अन्तर्गत आती हैं। जिनमें गीतात्मकता केवल प्रथम दो रचनाओं में ही है। उनमे वर्णनात्मकता ही प्रधान है।

'लहर' गीतात्मक प्रधान रचनाओं का सग्रह है। अधिकाश बहिर्मुखी रचनाओं मे 'स्वच्छन्द' छन्द हैं। सग्रह की रचनाओं में विभिन्नता स्वाभाविक है पर कवि के मानसिक केन्द्र और उसके प्रति खीझमय विद्रोह की ध्वनि का स्वर पूर्व रचनाओं के स्वर से पृथक नहीं है। पर पहिले जहाँ 'विषाद' का उसमें आधिपत्य दीख पड़ता था वहाँ इनमे अपनी स्थिति से उल्लासमय समझौता प्राधान्य हो गया है।

कामायनी

'कामायनी' 'प्रसाद' का अन्तिम ग्रन्थ है, जिसे अपने युग का 'महाकाव्य' कहा जा सकता है। सुख-दुख के साथ आँखमिचौनी खेलता हुआ जीवन अपनी पूर्णता को लेकर 'महाकाव्य' मे उतरता है। कभी चढता, कभी गिरता और कभी सँभलता हुआ वह अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। 'साहित्य-दर्पणकार' के अनुसार 'महाकाव्य' 'एक छन्दबद्ध' रचना है जिसमें आठ से अधिक सर्ग होते हैं; छन्द प्रति सर्गान्त में बदलता है और उसी से उसका अगला सर्ग प्रारम्भ होता है। उसका कथानक धार्मिक या पौराणिक होता है जो प्रारम्भ से अन्त तक शृङ्खला में जुड़ा रहता है, कथा की एक भी 'कड़ी' टूट जाने से वह बिखर जाता है—उसका प्रवाह ही खडित हो जाता है। महाकाव्य की अवान्तर कथाएँ मुख्य कथा के विकास में

सहायक ही सिद्ध होती हैं। इसमे प्रधान रस शृङ्गार, वीर या शांत होता है; अन्य रस गौण रूप में आते हैं। प्रकृति-वर्णन, संध्या, सूर्य, रात, चद्रमा, पर्वत, ॠतु, अंधकार, दिवस, वन, समुद्र आदि, सयोग-वियोग, युद्ध, यज्ञ, यात्रा, विवाह, अभ्युदय आदि का वर्णन होता है। नायक उत्तम कुल संभूत धीरोदात्त क्षत्रिय या देवता होता है।

अरस्तू ने भी महाकाव्य (EPic) के तत्वों का निर्देश किया है। उसके मत में उसकी कथावस्तु (plot) मे एकता (unity of plot) होनी चाहिए; उसमें एक आधिकारिक 'वस्तु' हो जो प्रारम्भ से अन्त तक शृङ्खलाबद्ध चलती रहे; प्रासगिक कथाएँ, मुख्य कथा की सहायक हों। पर, अरस्तू यह भी कहता है कि महाकाव्य की कथावस्तु की शृङ्खला यदि कुछ शिथिल भी हो तो कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि उसमें कथा की नहीं, काव्य की प्रधानता होनी चाहिए। नायक के सम्बन्ध में अरस्तू और साहित्यदर्पणकार का एक ही मत है। वह भी उसका धीरोदात्त होना आवश्यक समझता है। 'रस' के सम्बन्ध मे वह विशेष नहीं कहता। उसने पाठक या श्रोता की करुणा या भय की भावना को जाग्रत करना ही 'एपिक' और दुखान्त नाटक का लक्ष्य माना है।

महाकाव्य में भाषा-सौन्दर्य को वह देखना चाहता है। उसमें रूपकों का होना वह आवश्यक मानता है। 'कथा' का विस्तार मनमाना किया जा सकता है और उसमें अद्भुत घटनाओं का समावेश भी हो सकता है।

'द्विजेन्द्रलाल राय' ने संभवतः अरस्तू की उक्त व्याख्या से ही प्रभावित होकर कहा है "महाकाव्य एक या एक से अधिक चरित्र लेकर रचे जाते हैं। लेकिन, महाकाव्य में चरित्र-चित्रण प्रसङ्ग मात्र है। कवि का मुख्य उद्देश्य होता है उस प्रसङ्ग क्रम में कवित्व दिखाना। महाकाव्य में वर्णन ही (जैसे प्रकृति का वर्णन, घटनाओं का वर्णन, मनुष्य की प्रवृत्तियों का वर्णन) कवि का प्रधान लक्ष्य होता है, चरित्र उपलक्ष्य मात्र होते हैं। महाकाव्य में घटनाओं की एकाग्रता या सार्थकता का कुछ प्रयोजन नहीं है।"

'साहित्य दर्पण' की रूढ व्याख्या की कसौटी पर यदि 'कामायनी' को कसा जायगा तो वह चमक नहीं सकेगी—खरी नहीं उतरेगी। 'कामायनी' ही क्यों, हिन्दी का कोई भी 'महाकाव्य' उसकी व्याख्या की सीमा में अपने को नहीं बाँध पाया।

कवि जब काव्य की सृष्टि करता है तब वह किसी आचार्य की 'व्याख्या' की रेखाओं पर अपने को केन्द्रित नहीं रखता। अतः 'काव्य' की समीक्षा उसके 'काव्यक्षेत्र' मे प्रविष्ट होकर—उसकी आत्मा मे झाँककर—ही की जा सकती है; बाहरी आकृति उसके मूल्यांकन का माप नहीं बन सकती।

सबसे पहिले हम कामायिनी के कथानक को लेंगे। वह साहित्य दर्पणकार की धारणा के अनुसार ही पौराणिक है—कवि के शब्दों में 'ऐतिहासिक' है। यह वैदिक साहित्य की बिखरी हुई सामग्री से चुना गया है। ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद्, भागवत आदि में मनु का विभिन्न रूपों में उल्लेख मिलता है।

"जलप्लावन का वर्णन शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड से प्रारम्भ होता है; जिसमें मनु की नाव के उत्तर गिरि हिमवान प्रदेश मे पहुँचने का प्रसङ्ग है। वहाँ ओघ के जल का अवतरण होने पर मनु जिस स्थान पर उतरे उसे मनोरवसर्पण कहते हैं। श्रद्धा के साथ मनु का मिलन होने के बाद उसी निर्जन प्रदेश में उजडी हुई सृष्टि को फिर से आरम्भ करने का प्रयत्न हुआ। ('ऋग्वेद' में श्रद्धा और मनु दोनों का नाम ऋषियों की तरह मिलता है। 'श्रद्धा' 'कामगोत्रजा'—काम गोत्र की बालिका–कही गई है।) असुर पुरोहित के मिल जाने से मनु ने पशुबलि की। इस यज्ञ के बाद मनु मे जो पूर्व परिचित देव-प्रवृत्ति जाग उठी, उसने इड़ा के सम्पर्क मे आने पर उन्हें श्रद्धा के अतिरिक्त एक दूसरी ओर प्रेरित किया। ऋग्वेद मे इड़ा को स्त्री, बुद्धि का साधन करने वाली, मनुष्य को चेतना प्रदान करने वाली कहा है। इड़ा के प्रति मनु का अत्यधिक आकर्षण हुआ, श्रद्धा से वे खिंच गए। बुद्धि का विकास, राज्य की स्थापना इत्यादि इड़ा के प्रभाव से ही मनु ने किया, फिर तो इड़ा पर भी अधिकार

करने की चेष्टा के कारण मनु को देवगण का कोप-भाजन बनना पड़ा। इस अपराध के कारण उन्हे दण्ड भोगना पड़ा।"

यद्यपि कवि कहते हैं कि उन्होने कथा-शृङ्खला मिलाने के लिए कहीं कहीं थोड़ी बहुत कल्पना का भी सहारा लिया है, फिर भी हम देखते हैं, कथावस्तु की 'ग्रथि' शिथिल रह ही गई है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार महाकाव्य का कथानक इतना अधिक संगठित होता है कि उसमे से एक भी पद्य के पृथक कर देने से उसमें अस्तव्यस्तता आ जाती है। पर कामायनी में प्रेमचद के उपन्यासों की तरह एक ही पद्य क्यों, कहीं-कहीं पृष्ठ भी ओझल किए जा सकते हैं, और कथा के टूटने का भय नहीं रहता। 'लज्जा' सर्ग यदि सर्वथा लुप्त भी हो जाय तब भी 'कामायनी' के 'प्रबन्ध' में बाधा नहीं उपस्थित होती। सच बात तो यह है कि कथा की क्रमबद्धता पर 'प्रसाद' ने ध्यान ही नहीं रखा। कथा की समाप्ति में भी त्वरा दीख पडती है। मनु-कुमार ने इड़ा की आँखों में समाकर सारस्वत देश का शासन किस क्रम से किया, विद्रोह का शमन कैसे हुआ, आदि प्रश्न जिज्ञासा ही बने रहते हैं। हम तो उन्हे इड़ा के साथ सहसा कैलाश की ओर प्रधावित मात्र देखते हैं; मानों वे भी जनरव मय संसार से त्राण पाने को व्याकुल हो उठे हैं।

कामायनी की 'कथा' मे 'काम' के शाप ने उसमें गति प्रदान की है। 'मनु' को अप्रत्याशित सकटों और व्यामोह की अवस्था में पहुँचाने मे मानो वही प्रच्छन्न होकर कार्य कर रहा था।

'इड़ा' की बिखरी अलकों मे जब 'मनु' का मन उलझ गया तो वे यह भी भूल गए कि वह 'भावना' नहीं थी जो उनके मांसल अङ्गों पर 'बिछलने' वाले भावावेश को देखकर ही सिहर उठती; वह 'तर्क-जाल' थी; शासित होना नहीं चाहती थी। इसीलिए—

"आलिगन! फिर भय का क्रन्दन! वसुधा जैसे काँप उठी!
वह अतिचारी, दुर्वल नारी, परित्राण पथ नाप उठी!
अंतरिक्ष मे हुआ रुद्र हुंकार भयानक हलचल थी,
अरे आत्मजा प्रजा! पाप की परिभाषा बन शाप उठी।"

मनु की इड़ा की ओर रुझान भी समाज की व्यवस्था को पलटने वाली थी। 'आत्मजा प्रजा' में केवल 'नारी' देखकर मनु के 'नर' ने ज्योंही 'आलिगन' की शिथिल चेष्टा की; 'अन्तरिक्ष' का दैवी कोप उन पर बरस पड़ा—'शिव' के तृतीय नेत्र से ज्वालाएँ फैलने लगीं।

'काम' के 'शाप' ने कथानक में 'अशिवत्व' का प्रवेश नहीं होने दिया। 'मनु' का प्रत्येक कृत्य उसी की छाया से अभिभूत है; अतः क्षम्य है। 'श्रद्धा' के पुर्मिलन के बाद से 'शाप' का प्रभाव हट जाता है और मनु की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं; उन पर स्वर्गीय पवित्रता छा जाती है।

श्रद्धा उनकी भीतरी आँखे खोल देती है; उन्हें त्रिपुर—इच्छा, ज्ञान और कर्मलोक—के दर्शन होते हैं। उनके सारे द्वन्द्वों का पर्यवसान हो जाता है। हृदय में आनन्द की ज्योति जगमगा उठती है। मनु के मन मे विहँसने वाले 'शिव' उनके वातावरण—कैलास की भूमि—मे अपनी आभा विकीर्ण कर शाति की मधुवर्षा करने लगते हैं। सारी सृष्टि खिल उठती है, मानों आकाश का स्वर्ग उसी पर उतर आया है।

कामायनी की कथा की गति मन्थर भले ही हो पर उसके आदि और अत में जो भव्यता है वह अपनी अलग ही विशेषता रखती है; यत्र-तत्र नाटकीय छटा से वह और भी आकर्षक बन गई है।

'सर्गों' की सख्या आठ से अधिक है पर सर्गान्त के छन्दों के परिवर्तन के बन्धन मे कवि अपने को नहीं रोक सके।

मनु, श्रद्धा और इड़ा का 'सांकेतिक अर्थ' भी कवि को अभीष्ट है। मनु मन का प्रतीक, श्रद्धा उसके एक पक्ष 'हृदय' और 'इड़ा' उसके दूसरे पक्ष मस्तिष्क का प्रतीक है। मन 'श्रद्धा' की ओर जब झुक जाता है तब तर्क शून्य हो जाता है, जब वह 'इड़ा' (बुद्धि) को ही सब कुछ समझने लगता है, तो यत्रवत् हो जाता है। उसका तोल तभी ठीक रहता है जब वह बुद्धि (इड़ा) और हृदय (श्रद्धा) दोनों का समन्वय करता है पर 'प्रसाद' ने अन्त में श्रद्धा (हृदय)

की ही इड़ा ("बुद्धि") पर श्रेष्ठता स्थापित की है। उनका विश्वास है कि मनुष्य 'बुद्धि' का परित्याग कर सकता हैं ; 'हृदय' का नहीं। आत्मिक सुख की प्राप्ति 'श्रद्धा' द्वारा ही हो सकती है। 'बुद्धि' का उपयोग जीवन-सघर्ष में ही होता है। तर्क वितर्क से आत्मा की शांति भंग होती है। इसी से मनु पुकार उठते हैं—

"यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल;
सब पाप पुण्य जिसमें जल जल,
पावन बन जाते हैं निर्मल ;
मिटते असत्य मे ज्ञान लेश,
समरस अखंड आनन्द वेश !"

श्रद्धा ही मनु को अन्त में उस आनन्द लोक तक ले जाती है जहाँ पहुँचकर कोई 'कामना' की ऐसी लहर उन्हें स्पर्श नही कर पाती जो विचलित बना दे। उनका मन उस मधुमती भूमिका मे पहुँच जाता है जहाँ ममत्व का केन्द्र विशेष उसे खीच नहीं सकता। सर्वत्र एक ही भाव, एक ही रस वह अनुभव करने लगता है। सभी वस्तुएँ उसमें 'आनन्द' का संचार करती हैं। 'कबीर' के भाव में साधक 'अमिय रस' की वर्षा मे निशिदिन भींजता रहता है।

'लहर' में भी कवि ने इसी प्रकार की कांक्षा व्यक्त की है, 'कोलाहल की अवनी' से त्राण पाने के लिए वह व्याकुल हो उठा है—

"ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।"

"जिस गम्भीर मधुर छाया में—
विश्व चित्र-पट चल माया में—

विभुता विभु-सी पड़े दिखाई,
दुख-सुख वाली सत्य बनी रे।
श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से—
जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण उषा नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे।"

अपनी इसी भावना की कवि ने कामायनी में पूर्ण परिणति की है—रूपक के 'फ्रेम' में यही मनोवाञ्छा 'चित्र' के समान जमकर सँवर उठी है।

कामायनी में प्रकृति मुसकुराकर हर्ष-पुलक भी भरती है; तीखी भ्रूभंगियो से सहम का विकम्पन भी। पर, उसके दोनों रूपों मे वैशिष्ट्य है, आस्वाद है।

'उषा', 'सुनहले तीर', 'बरसाती है', 'रात', विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी है जो संसार में मधुर रस की वर्षा करती है। 'समीर' के मिस हाँफती 'किसी' के पास चली जा रही है—घबराई सी, सहमी सी मानो। 'रात–रानी' के 'प्रथम अभिसार' की कल्पना कितनी मधुर है!

उसकी 'उज्ज्वलता' पर कवि की कल्पना हुलस उठती है—

"विकल खिलखिलाती है क्यों तू?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर;
तुहिन कणों, फेनिल लहरों में,
मच जावेगी फिर अंधेर।"

'चाँदनी रात' कितनी मादकता भर देती है, इसकी ओर कवि का इङ्गन है। जब रात में यत्र-तत्र मेघ आकाश मे दौड़ते हैं तो चाँद झाँकता व छुपता सा दीख पड़ता है, मानो रात ही घूँघट में अपना सुन्दर मुखड़ा ढाँप लेती हो। कवि कहते हैं—

"घूँघट उठा देख मुसक्याती
किसे ठिठकती सी आती;
विजन गगन में किसी भूल सी
किसको स्मृति पथ में लाती।"

'चाँद' 'रजत कुसुम' सा है और उसकी 'चाँदनी' पराग सी। चारों ओर उसका छिटकना 'धूल' सा उड़ता प्रतीत होता है। ज्योत्स्ना का यह रूप इतना मादक है कि स्वय 'रात' भूली सी लगती है। 'रात' का यह मानवीकरण कितना सजीव होकर खिल उठा है। 'चाँदनी' की रजत कुसुम (चाँद) के 'नवपराग' से उपमा सम्भवतः हिंदी मे प्रथम बार ही दी गई है।

'तारों भरी' 'रात' का और भी चित्र देखिए—

"पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल;
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील बसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली!"

'हिमालय' और 'कैलास' के पर्वत भी सप्राण हैं। 'प्रलय' की कल्पना भी भव्य है, भयानक है—

"धँसती धरा, धधकती ज्वाला,
ज्वाला-मुखियों के निश्वास;
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास।"

यह सच है कि 'प्रसाद' की स्थायी प्रेममयी भावना 'नारी चित्र' को विस्मृत नहीं कर पाती। आकाश से शंपाओं का खंड-खंड होकर निपात हो रहा है। पृथ्वी भूकम्प से काँप रही है। कवि की कल्पना भयभीता रमणी की ओर दौड़ जाती है—

"बार बार उस भीषण रव से
कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो
आलिंगन के हेतु अशेष।"

केवल प्रकृति का वर्णन मात्र 'प्रसाद' मे कम मिलता है, वे तो उसे सजीव ही देख सकते हैं, मनुष्य की भावनाओं से उल्लसित या विषादमयी।

समुद्र किनारे की अवशिष्ट थोड़ी सी 'धरती' का चित्र भी सुहाग रात की व्यथित स्मृति लेकर सिमटी बैठी 'वधू' के रूप मे प्रस्तुत है—

"सिंधु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी;
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी ऐंठी सी!"

'प्रसाद' जड़ को चेतन में और 'मानव' के रूप मे देखने के अभ्यासी हैं। यही तादात्म्य स्थापन की विह्वलता उनकी रहस्यमयी प्रवृत्ति की द्योतक है! 'रहस्यवादी' भी क्या चाहता है? वह जड़ चैतन्य की 'दुविधा' ही मिटा देना चाहता है।

प्रकृति के अतिरिक्त 'प्रसाद' ने अन्य स्थितियों के भी रम्य चित्र अंकित किए हैं। 'मनु' विशाल लम्बा पुरुष है—

"अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार,
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमे संचार।"

मनु के पौरुष प्लावित दृढ़ शरीर से जो सौरभ बहता था* उसी ने, 'श्रद्धा' को अपनी हस्ती खोने को विवश किया। स्त्री का आकर्षण उसी पुरुष के प्रति दृढ़ता धारण करता है, जिसमें पौरुष हो और परुषता भी।

'गर्भवती स्त्री' का चित्र भी अद्वितीय है। श्रद्धा का महापर्व (प्रसव-काल) समीप आ रहा है, जरा उसकी ओर निहारिए तो—

"केतकी गर्भ सा पीला मुँह,
आँखों में आलस भरा स्नेह;

* हठयोग की पुस्तकों में कहा गया है कि स्वस्थ शरीर के प्रस्वेद से मतवाली गंध बहती है जो आकर्षण की शक्ति रखती है।

कुछ कृशता नई लनीली थी
कंपित लतिका सी लिये देह !"
"मातृत्व बोझ से झुके हुए
बँध रहे पयोधर पीन आज।"

चिन्ता, लज्जा आदि मनोविकारों की भी अभिव्यक्ति अच्छी हुई है। चिन्ता का जन्म अभाव से होता है और जब वह तीव्र हो जाती है तो ललाट पर टेढ़ी रेखाओं के रूप मे व्यक्त होती है। उसी से व्याधि आधि का सूत्रपात होता है। 'लज्जा' के स्वरूपों का कवि ने बहुत ही निकटतम अध्ययन किया है।

"छूने में हिचक, देखने में
पलकें आँखों पर झुकती हैं;
कलरव परिहास भरी गूँजें
अधरों तक सहसा रुकती हैं।"
"मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ
मतवाली सुन्दरता पग मे
नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।
लाली बन सरल कपोलों में
आँखो में अंजन सी लगती;
कुंचित अलको सी घुँघराली
मन की मरोर बन कर जगती।"

कवि ने 'लज्जा' के विषय में ठीक ही कहा है कि वह सदा हृदय मे अतृप्ति की प्यास जगाए रहती है। और वही 'अतृप्ति' जीवन को अन्त तक सरस बनाए रहती है।

'सत्य' की परिभाषा कवि ने कितनी युक्तिसंगत की है—

"और सत्य ! यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है;
मेधा के क्रीड़ा - पिंजर का
पाला हुआ सुआ है।"

मनुष्य अपनी ही 'इच्छा' को 'सत्य' सिद्ध कर लेता है। वास्तव में अमुक ही सत्य है, यह कहना कठिन है—

"सब बातों में खोज तुम्हारी
रट सी लगी हुई है;
किंतु स्पर्श से तर्क करों के
बनता 'छुई मुई' है।"

अन्तर्वृत्तियों का चित्रण भी कई स्थानों पर बड़ा आकर्षक है।

मनु श्रद्धा को पाकर संसार मे कुछ पाना नहीं चाहते पर श्रद्धा मनु की हिंसा प्रवृत्ति से खिन्न हो 'अलग जा बैठी है'। मनु सोचने लगते हैं—

"जिसमे जोवन का संचित सुख
सुन्दर मूर्त्त बना है!
हृदय खोल कर कैसे उसको
कहूँ कि वह अपना है?"

उन्मुक्त हृदय से मनु 'श्रद्धा' को अपनी कहने में इसीलिए झिझकते हैं कि श्रद्धा के मन का तादात्म्य उनके मन से पूर्ण रूप से नहीं होने पाया। 'श्रद्धा' के मन की उलझन भी दर्शनीय है—

उसके हृदय मे मनु के प्रति अनुरक्ति है जिसमें रति और प्रेम दोनों का समावेश है। रति वह भाव कहलाता है जो शरीर पर प्यार करता है और प्रेम मानसिक भावना है जो व्यापक है। 'श्रद्धा' ने 'मनु' के विशाल वक्षस्थल और तेजपूर्ण 'शरीर' पर स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया था। चेतना के क्षणिक 'स्खलन' को वह प्रमाद समझती है फिर भी जब 'मनु' की आँखों मे मतवाली छलकन उसे दीख पड़ती है तो वह अपना तर्क खो देती है—उसकी पलकें नशीली बन झपने लगती हैं—वह मनु की भुजाओं में अपने को सौंप देती है, स्वयं 'खो' जाती है। फिर वह यह नहीं सोचती—

"कितना दुःख जिसे मै चाहूँ
वह कुछ और बना हो;
मेरा मानस चित्र खींचना
सुन्दर सा सपना हो।"

फिर तो वह स्वयं अपने को समझा लेती है।

"जिसके हृदय सदा समीप है
वही दूर जाता है;
और क्रोध होता उस पर ही
जिससे कुछ नाता है।"

कभी कभी मनुष्य के मुख से भावी सत्य बोल उठता है। श्रद्धा मनु के साथ मादक लहरों में बहते समय कह उठती है—

"कल ही यदि परिवर्त्तन होगा
तो फिर कौन बचेगा;
क्या जाने कोई साथी बन
नूतन यज्ञ रचेगा!"

हम देखते हैं 'मनु' 'श्रद्धा' को छोड़कर चले जाते हैं और 'इड़ा' के साथ नया जीवन यापन करते हैं; यद्यपि 'इड़ा' को सर्वथा अपनाने में वे समर्थ नहीं होते। जब शारीरी प्यास विह्वल हो उठती है, तब व्यक्ति अपने अस्तित्व को भूल नहीं जाता, भूलने की घोषणा अवश्य करता है। पुरुष की आँखों मे उस क्षण स्त्री अत्यधिक रूपमयी हो जाती है। 'मनु' के मन मे जब 'वासना' लहर उठती है, वे श्रद्धा को लक्ष्य करते हैं—

"कहा मनु ने तुम्हें देखा अतिथि! कितनी बार;
किन्तु इतने तो न थे तुम दबे छवि के भार!"

और भी—

"तुम समीप, अधीर इतने
आज क्यों हैं प्राण?
छक रहा है किस सुरभि से
तृप्त होकर घ्राण?"

मनु 'वासना' से उन्मत्त होकर 'श्रद्धा' को सबसे अधिक सम्मान देने को प्रस्तुत हैं—

"आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान।
विश्व रानी! सुन्दरी! नारी जगत की मान।"

पुरुष स्त्री का सर्वस्व हरण करना चाहता है। अतः उसकी चाटु कारिता भरी आतुरता देखिए। कितनी त्वरा में वह उसे एक साथ ही तीन तीन सम्बोधनों से आत्मविभोर बनाना चाहता है—प्रसन्न पुलक से भर देना चाहता है।

विश्व रानी ! सुन्दरी !! नारी जगत की मान !!!

बेचारी नारी, भोली नारी ! कोमल नारी ! इतने शब्द-माधुर्य का भार कब तक वहन करती ?

"स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदंब सा था भरा गद्‌गद बोल।"

फिर तो 'प्रसाद' उसे चेतना के द्वार पर ले जाकर इस निष्ठुर सत्य का उद्‌घाटन उसके मुख से ही कराते हैं—

"किन्तु बोली क्यो समर्पण आज का हे देव !
बनेगा चिर-बध नारी हृदय हेतु सदैव।
आह मै दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान !
वह, जिसे उपभोग करने मे विकल हों प्रान ?"

कवि ने श्रद्धा और मनु का मनोवैज्ञानिक ढग से नारी और पुरुष के रूप में मिलन कराया है। एक बार पुरुष के आगे आत्मसमर्पण कर देने पर स्त्री अपनी सत्ता पुरुष से पृथक् नही रख सकती। तभी 'श्रद्धा' 'लज्जा' से कहती है—

"मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूँ ;
भुज लता फँसा कर नर तरु से
झूले सी झोके खाती हूँ।"

मै जब जब अपने को सँभालने का प्रयत्न करती हूँ तो स्वय बेसँभाल बन जाती हूँ। वह अनुभव करने लगती है कि मुझे तो केवल 'उत्सर्ग' ही करना है। उसका प्रतिकार पाने की आशा मुझे नहीं करनी चाहिए। यही बात 'काम' ने भी मनु से कही है—

"मनु ! उसने तो कर दिया दान,

वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमें जीवन का भरा मान ;
जिसमें चेतना ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान ।"

लज्जा तभी कहती है—

"नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में;
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में ।"

सुख-दुख, पाप-पुण्य सभी को हँसते रोते नारी सहती है । श्रद्धा को प्रसाद ने सहृदयता, सुन्दरता और सात्विकता के प्रतीक के रूप मे प्रस्तुत किया है । मनु के परित्याग के पश्चात् भी वह उसे मन से नहीं त्याग सकी—

"रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही !
वह कहती रही अधीर श्रान्त ।"

स्वप्न में वह 'निर्मोही' को इड़ा के प्रति आकर्षित देखती है—सकट मे घिरा देखती है तो विकल हो जाती है, खोज में निकल पड़ती है और 'इड़ा' से पता पा लेती है । 'इड़ा' के कारण ही उसके 'निर्मोही' की दुर्गति हुई अतः वह खीझकर कहती है—

"सिर चढी रही ! पाया न हृदय ,
तू विकल कर रही है अभिनय ।"

श्रद्धा के इस कथन पर आपत्ति उठाते हुए स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था—"श्रद्धा इड़ा से कहती है कि 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय ।' क्या श्रद्धा के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता 'रस पगी रही पाई न बुद्धि' । जब दोनों अलग अलग सत्ताएँ करके रखी गई हैं तब एक को दूसरी से शून्य कहना और दूसरी को पहिली से शून्य कहना गडबड में डालता है ।" पर श्रद्धा ने मन की जिस अवस्था में 'इड़ा' को उलाहना दिया उससे कोई गड़बड़ी नहीं पैदा होती । 'कामायनी' केवल मनोवृत्तियों पर लिखे गए निबन्धों का संग्रह नहीं है, वह प्रबन्ध-काव्य है, कथा को लेकर चलने वाला । जिसमें कवि ने चरित्र-चित्रण का भी थोड़ा बहुत विचार रखा है । श्रद्धा के उक्त कथन से भी इड़ा

और श्रद्धा के प्रकृति - भेद में कोई शंका नही होती । मनुष्य किसी का स्वभाव जानकर भी तो विषम परिस्थिति मे—ऐसी परिस्थिति मे जिसके निर्माण में उसका हाथ है, उसे उसकी अनिष्टकारी प्रकृति पर भला-बुरा कहता है, इड़ा को तर्क की लहरें 'गिनने वाली' जानकर भी श्रद्धा अपने आवेग को बहुत स्वाभाविक रीति से प्रकट करती है—

"सिर चढ़ी रही पाया न हृदय ।"

इड़ा 'बुद्धि' का प्रतीक होकर भी 'नारी' है, वह पुरुष की वासना-वेग में बहती नहीं है पर एक बार उसका हृदय अपनी निष्ठुरता पर 'धक् धक्' होने लगता है । उसकी अन्तर्वेदना उसके श्रद्धा को कहे गए शब्दों से प्रकट होती है—

"तिस पर मैंने छीना सुहाग हे देवि ! तुम्हारा दिव्य-राग ;
मैं आज अकिंचन पाती हूँ अपने को नहीं सुहाती हूँ ;
मै जो कुछ भी स्वर गाती हूँ, वह स्वयं नही सुन पाती हूँ ।"

वह मन ही मन अनुभव करती है कि उसकी निष्ठुरता ने ही 'मनु' को विक्षिप्त बना डाला है । जब मनुष्य अपने कृत्यों पर ग्लानि से भर जाता है तो वह 'अपने को ही नही सुहाता !' 'घृणा और ममता' की उलझन भरी चिन्तन में उसकी न जाने कितनी रातें बीत चुकी हैं । नारी का वह हृदय था जिसमें 'सुधा-सिन्धु' लहरे लेता है और बाड़व ज्वाला भी उसी मे जलती है । उसमें 'क्षमा और प्रतिशोध'—दोनों की माया नृत्य करती है । प्रेम वही 'अपराध' बन जाता है जब वह सभी सीमाओं को तोड़ने के लिए मचल उठता है । 'मनु' को इसी सीमोल्लंघन-चेष्टा के लिए कष्टों की भट्टी में जलना पड़ा ।

'श्रद्धा' मे 'इड़ा' के प्रति खीझ-रोष का भाव अवश्य है, ईर्ष्या का नही । 'श्रद्धा' का सचमुच आदर्श चरित्र है । उसमे भारतीय नारीत्व का उज्ज्वलतम रूप देदीप्यमान हो रहा है । 'श्रद्धा' अपने सौम्य-कुमार को 'इड़ा' को सौप देती है; और आशा करती है कि दोनों के सम्मिलन से मानव का भाग्योदय होगा । 'इड़ा' श्रद्धा के इस प्रस्ताव को शीघ्र स्वीकार कर लेती है और मनु के 'कुमार' के साथ उसका तादात्म्य हो भी जाता है ।

'मनु' के चरित्र के सम्बन्ध मे हम पहले किसी प्रकरण मे लिख चुके हैं। वे 'आदर्श' पुरुष नहीं हैं; उनमें नैतिक बल की कमी है, परिस्थिति से प्रभावित हो जाना उनका स्वभाव है। उनकी ईर्ष्या अस्वाभाविकता की पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। आदि पुरुष की दृढ़ता और नेतृत्व का उनमें अभाव है; 'स्त्री' के इशारों पर थिरकना भर वे जानते हैं; उनमें स्वय कर्त्तव्य-शक्ति नहीं है। वे स्वयं स्वीकार करते हैं—

"साहस छूट गया है मेरा। निस्संबल भग्नांश पथिक हूँ

... ...

लौट चलो इस बात चक्र से मै दुर्बल अब लड न सकूँगा।"

श्रद्धा ही उनमे 'बल' और 'साहस' बढ़ाती है। कवि ने 'पुरुष' को स्त्री के बिना सर्वथा निरालम्ब, निराश्रय बतलाया है। 'स्त्री' को सर्वशक्तिमयी स्फूर्ति-प्रतिभा और पुरुष के आधार से स्वतंत्र चित्रित किया है। इसमे स्त्री के गौरव की उच्च स्वर मे घोषणा भले ही सुन पड़े पर वास्तविकता इसी मे है, 'समरसता' इसी मे है कि जिस प्रकार पुरुष स्त्री के बिना अपूर्ण है उसी प्रकार स्त्री भी पुरुष के बिना पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकती। 'प्रसाद' ने चित्र के एक ही भाग मे गहरा रग भरकर 'स्त्री' को 'सर्वगुण सम्पन्ना' दिखाकर 'तुला' की 'डॉडी' को एक ओर ही झुका दिया है।

यह चर्चा हमने मनु, इड़ा और श्रद्धा के वर्णित आख्यान को दृष्टि मे रखकर की है। उनके सांकेतिक रूप पर विचार करने से मनु के 'श्रद्धा' और 'इड़ा' दो अंग हैं—दूसरे शब्दों में क्रमशः भावना और बुद्धि। सांसारिक सघर्ष में 'भावना' का नहीं; 'बुद्धि' का सहारा लेना पड़ता है, पर जहाँ आत्मिक उत्कर्ष की कामना है, वहाँ बुद्धि का सर्वथा परित्याग किया जा सकता है; केवल श्रद्धा—भावना ही हमें सुख लोक में ले जा सकती है। श्रद्धा से हम सहज विश्वासी बन जाते हैं।

कामायनी में 'दर्शन'

'कामायनी' में मानव जीवन का सनातन सत्य भी अभिव्यक्त हुआ है। आध्यात्मिक साधना मनुष्य की 'वासनाओं' की तृप्ति के पश्चात् ही सभव होती है—सफल होती है। प्रारम्भ ही में संसार से

एकदम आँख मूँद कर 'भीतर का रहस्य' नहीं दिखलाई पड़ता। 'बाहर' आँख खोलकर देख चुकने पर ही अन्तर के पट खुलते हैं और 'शिव' के 'दर्शन' होते हैं। 'प्रसाद' ने अपने साहित्य में यत्र-तत्र 'समरसता' का उल्लेख किया है। यह शैवदर्शन का शब्द है।

शैवदर्शन 'अद्वैतवाद' से दूर नहीं है। 'आगम' में 'अद्वैत' का अर्थ दो का नित्य सामरस्य है।

एक शास्त्रकार कहते हैं—

"इति वायस्य संवित्तिः क्रीडात्वे नाखिलं जगत।
संपश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥"

'जीवन्मुक्त' जगत भर को ही आत्मविलास के रूप में देखते हैं;- उनकी योगावस्था कभी भग्न नहीं होती। भेद और अभेद, व्युत्थान और निराध दोनों के अन्दर साम्यदर्शन होने पर और कोई आशका नहीं रह जाती। क्योंकि दोनों एक ही के दो प्रकार हैं। इसी को शिव-शक्ति का सामरस्य या चिदानन्द की प्राप्ति कहते हैं। यही 'ईश्वराद्वय-वाद' की विशिष्टता है। यह न तो शुष्क ज्ञानमार्ग है और न ज्ञानहीन भक्तिमार्ग ही—इसमें ज्ञान और भक्ति दोनों का सामञ्जस्य है। चिदंश ज्ञान भाव है और आनन्दांश भक्ति है। परमतत्त्व स्वातंत्र्यमय है, स्वतन्त्रता ही पूर्ण शक्ति है। इसी कारण इस मत में चरमावस्था मे भी शिवशक्ति का सामरस्य माना गया है। शिव और शक्ति अभिन्न है।

हिन्दू-शास्त्र 'मृत्यु' को ही जीवन का अन्त नहीं मानते, जीवन तो अनन्त है—'महाप्रलय' की चिता मे जब सब कुछ 'अन्त' हुआ सा दीखता है, जीवन की किरणे रह रहकर मुसकुरा उठती हैं। 'शिव' को सहारक कहा गया है पर उनकी पूजा 'लिंग' के रूप में की जाती है—दूसरे शब्दों मे वे सहारक ही नहीं, 'स्रष्टा' के भी प्रतीक माने जाते हैं। उन्हे 'नटराज' भी कहा जाता है।

रोनेल्ड्से ने लिखा है—"To the Indian the Natraj is the plastic presentation of whole philosophy, the whirl of the dance is the energy of the Uni-

verse." ताडवनृत्य में विश्व की गति-स्फूर्ति-ही साकार हो उठी है। Ideal of Hinduism में पं० काशीनाथ लिखते हैं—"Behind this whirl of plastic circumstance, the ebb and flow of changing creation, there is peace at the heart of it all. Death may be levying its horrid toll, new life may come only through pain and tribulation and the whole of life may be as unstable as water on the leaf, but behind these all is the peace of God—all is well with the world. Sheo is on his Kailash amdist the silence of the pure snows, sitting absorbed in the ecstatic calm of Samadhi Both he and Vishnu asleep on the Shesh Nag, convey the assurance that "Anand" and peace are at the beginning and at the end of creation, and so consequently peace must also in reality be at the heart of this tumultuous ocean of life."

(इस परिवर्तनशील विश्व के चढ़ाव-उतार में संघर्षमय परिस्थिति के पीछे एक प्रकार की शाति का आवास रहता है। मृत्यु अपनी भयकरता का भले ही प्रदर्शन करे, नवजीवन अनेक सकटों, कष्टों के पश्चात् ही आँखें खोले, समस्त जीवन कमल पत्र पर जलविंदु के समान भले हो अस्थिर हो, परन्तु इन सबके पीछे परमात्मा की परम शांति छिपी हुई है जिससे ससार को प्रत्येक हलचल मे शिवम् का ही भाव अन्तर्हित रहता है। शिव हिमाच्छादित कैलास पर विराज रहे हैं—समाधि ही में डूबे हुए हैं। शिव और विष्णु यह विश्वास दिलाते हैं कि आनन्द और शाति सृष्टि के आदि और अत दोनों में रहते हैं। अतएव इस हहरानेवाले जीवन समुद्र के तल में भी सचमुच शांति का ही वास है।)

शिव की दृष्टि में कोई वस्तु अशिव (बुरी) नहीं है। विष भी

उनके ओठों मे अमृत बन जाता है। नरमुंडमाल, सर्प आदि भयोत्पादक वस्तुओं से उन्हें चाव है।

शिव से आत्मा का मिलन कब होता है? इस प्रश्न का उत्तर पार्वती का पौराणिक आख्यान दे देता है। शैल-नन्दिनी शिव से मिलने के लिए व्याकुल थीं। अतः उन्होंने एकनिष्ठ हो अनेक सकटों को सहकर उनके प्रति अपनी भावनाओं को केंद्रित किया और उन्होंने सिद्ध कर दिया कि प्रेम, श्रद्धा और भक्ति से ही 'शिव' रीझते हैं।

'पार्वती' को आत्मा का प्रतीक माना जा सकता है और शिव तो चिर आनन्द स्रोत परमात्मा के स्वरूप हैं ही। शिव के पाँच रूप हैं १—संहारक, २—स्रष्टा, ३—मायायोगी दिगबर, ४—मंत्रविद् ऋषि, ५—नटराज।

'कामायनी' में 'शिव' के पाँचों रूपों के दर्शन होते हैं—

'मनु' के इड़ा के प्रति किए गए अत्याचार से 'रुद्र-नयन' खुल जाता है। वसुधा काँप उठती है—

"प्रकृति त्रस्त थी, भूतनाथ ने,
नृत्य विकम्पित पर अपना!
उधर उठाया, भूत सृष्टि सब,
होने जाती थी सपना!"

यह उनका सहारक रूप है। जब रुद्र का रोष शान्त हो जाता है, स्रष्टा का रूप 'कर्म' मे इङ्गित किया गया है—

"नील गरल से भरा हुआ
यह चंद्र कपाल लिये हो;
इन्हीं निमीलित ताराओ में
कितनी शाति पिये हो।
अखिल विश्व का विष पीते हो
सृष्टि जियेगी फिर से,
कहो अमर शीतलता इतनी
आती तुम्हें किधर से?"

अचल अनन्त नील लहरों पर आसन मारकर वैठे हुए देव 'माया

योगी दिगम्बर' ही हैं। मन्त्रब्दि ऋषि का रूप उनका कैलास पर दिखाई देता है, जहाँ मनु अपनी साधना में लीन हो सत्य-ज्ञान को प्राप्त करने मे रत रहते हैं। 'दर्शन' मे मनु ने 'नर्तितनटेश' को देख कर ही चेतना खो दो है और वे श्रद्धा को पुकार उठे थे—

"यह क्या ! श्रद्धे ! बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज संबल।"

पीड़ा, संघर्ष और मृत्यु में ही नवजीवन छिपा हुआ है, शांति मुसकरा रही है, यह महान शिव तथ्य 'कामायनी' मे हमें मिलता है। प्रलय के ताण्डव मे ही नवजीवन और नव सृष्टि के अंकुर शेष थे—वे थे 'मनु' और 'श्रद्धा'। हम देखते हैं, सृष्टि के 'अंत' मे प्रलय के पूर्व ही—'आनन्द' की क्रीड़ा थी और सृष्टि के प्रारंभ में भी 'आनन्द' श्रद्धा के रूप में मनु के जीवन मे बरस उठता है। जीवन का मध्य संघर्षों मे बीतता है पर जब उसकी संध्या आने को होती है तो फिर एक बार स्थायी 'आनन्द' मनु के जीवन मे छा जाता है और वह 'शिवरूप' हो जाते हैं।

जिस आनन्दमय वातावरण की सृष्टि करती हुई कामायनी की इति होती है वह हमारे मन मे चिरशांति की उद्भावना करता है। 'मनु' का मन 'शांति' का आश्रय है, 'शिव' उसका आलम्बन और 'कैलास' का रूप जिसमे 'पुरुष' पुरातन स्पंदित सा मानसी गौरी लहरों का कोमल नर्तन देखता है, शांत भाव को उद्दीप्त कर रहा है। हमारे हृदय से शांत रस झर उठता है। हम भीतर ही भीतर भींग उठते हैं।

श्री इलाचंद्र जोशी के शब्दों में "कामायनी" की रचना मानवात्मा की उस चिरन्तन पुकार को लेकर हुई है जो आदि काल से चिर अमर आनन्द और चिर् अमर शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा से व्याकुल है। इस घोर अहम्मन्यता पूर्ण दुर्दम आकांक्षा की चरितार्थता के प्रयत्न में मानव को जिन संकट-संकुल-गिरि-पथों, जिन जटिल जाल जड़ित गहन अरण्य प्रान्तरों तथा घोर अंधकाराच्छन्न कराल रात्रियों का सामना करना पड़ता है, उनके संघात की वेदना 'कामायनी' मे बिजली के शब्द से कड़कती हुई बोल उठी है।"

परिशिष्ट (क)

'आँसू' की 'पंक्तियों' पर प्रकाश

इस करुणा से भरे हृदय मे अब विकलता छा गई है। और पता नहीं, क्यों बेहद वेदना बढ गई है ? हृदय में दुख की स्थिति तो थी ही पर कवि कहते हैं कि उसमे अब दर्द की तीव्रता क्यों अनुभव होने लगी ? इस प्रश्न का उत्तर कवि ने आगे की ही पक्तियों में दे दिया है।

× × ×

उनके मन में भूली बीती बातों की स्मृति जाग उठी है और वही स्मृति मन के पर्दे पर बारबार धीरे-धीरे टकरा रही है, पहिली दो पक्तियों में कवि प्रश्न करते हैं कि मानस-सागर के किनारे पर भाव-लहरें क्यों टकरा रही हैं ! 'लोल' शब्द कहता है कि स्मृतियाँ एक के बाद एक बड़ी शीघ्रता से उठ रही हैं। और मन पर धक्के मार रही हैं। परन्तु उन स्मृति-लहरों का आघात भी मधुर है, तभी उनकी 'कल-कल' ध्वनि है।

× × ×

कवि की स्मृति-वेदना 'हाहाकार' स्वरो में प्रखरित हो जाती है पर यह चीत्कार उन्हीं तक मँडराकर रह जाता है। जिसके प्रति वह उन्मुख होता है उस तक पहुँच ही नहीं पाता। ऐसा प्रतीत होता है, कवि का 'प्रिय' इस लोक मे नही रहा। जिसके साथ उन्होंने मिलकर प्रेम का मादक प्याला पिया था, वह (प्याला) अब उनके हाथ में अकेला ही रह गया है—उसकी रिक्तता से वे रह-रह व्यथित हो उठते हैं। उनका उत्पीड़न 'अरण्य रोदन' बन गया है, जो बाहर प्रकट होकर उनकी आन्तरिक अवस्था को सारे संसार और आकाश तक में भर देता है पर उसका कोई प्रत्युत्तर उन्हें नहीं मिलता। वे अपने करुण आलाप को स्वय सुना करते हैं। उनके आँसुओं के साथ आँसू बहानेवाला और कोई उन्हें नहीं दीखता। इसी से वे

पूछते हैं कि 'मेरी प्रतिध्वनि' शून्य क्षितिज से क्यों लौट आती है ? यह एकाकी रुदन पागल का प्रलाप तो नहीं है ?

× × ×

'मैने अपने विह्वल जीवन के सुख-दुख दोनों पहलुओं को स्पष्ट ही प्रस्तुत कर दिया है।' कवि कहते हैं "मुझे स्वयं पता नहीं कि मैने ऐसा क्यों किया ? पर इससे मुझे सुख अवश्य अनुभव हुआ है।" अपने जागृत मन या जीवन को कवि ने 'व्यथित व्योम गगा' की उपमा दी है। आकाश-गगा के फेनिल तारक-समूह व्यथा के प्रतीक प्रतीत होते हैं। जब कोई तरल चीज़ मथी जाती है तो वह फेनिल हो उठती है। हृदय को जब वेदना मथने लगती है तो उससे उठा हुआ फेन ही मानों आँखों से आँसू बनकर ढरक जाता है। नदी के उद्गम और अन्त ही उसके दो छोर होते हैं। कभी कभी नदी के उद्गम के ठीक स्थान का स्पष्ट पता नहीं चल पाता। उसका स्रोत अज्ञात स्थल से ही फूटकर बह सकता है पर कवि ने अपने मन की 'तरङ्गिनी' के किसी भी 'छोर' को गोपनीय नही रखा। जिस तरह हम 'आकाश-गंगा' की रेखा के दोनों छोरों को खुली आँखों से देख सकते हैं उसी प्रकार कवि ने अपने 'जीवन' के दोनों छोरों—(हर्ष और अवसाद) को बहुत ही स्पष्टता से छिटका दिया है—प्रस्तुत कर दिया है। और ऐसा करने पर उन्हे सुख ही अनुभव हुआ है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब मनुष्य अपने दवे 'विकारों' को बाहर निकाल देता है तो उसे एक प्रकार की सेहत मिलती है।

('छोर' को कवि ने स्त्रीलिंग बना दिया है और उसका बहुवचन 'छोरें' भी तुक का तकाजा पूरा कर रहा है।)

× × ×

मेरे हृदय में अनेक स्मृतियाँ छाई हैं। जिस प्रकार नीलाकाश में फैले हुए नक्षत्र समुदाय को नहीं गिना जा सकता—उसकी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती उसी प्रकार मेरे सुख-दुखमय जीवन की स्मृतियों की संख्या का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। ऐसा मालूम होता है मानो मेरे हृदय में ही आकाश छा गया हो। हृदय को 'नील

निलय' (नीला स्थान) इसलिए कहा है कि वह एक तो शून्य है आकाश ही की तरह और दूसरे वह निराशा से परिपूर्ण है—निराशा अंधकार के समान है और अंधकार का वर्ण 'नील' कहा जा सकता है।

× × ×

हृदय में जो ज्वालामयी जलन है—'प्रिय' की स्मृति—चिनगारियाँ हैं—वही गरम 'आँसू' बनकर गिर रही हैं। आँसू प्रिय की स्मृति में ही बह रहे हैं। अतएव यह प्रकट कर रहे हैं कि कवि का 'उनसे' कभी मिलन हुआ था। जो इन पंक्तियों मे आध्यात्मिकता का आभास पाते हैं, वे कहते हैं कि आत्मा परमात्मा पहिले 'एक' थे। अब जो आँसू गिर रहे हैं वे आत्मा की वियोग-वेदना के अगारे ही हैं; हम इन पंक्तियों मे हठात् 'आत्मा-परमात्मा' का साम्प्रदायिक अर्थ आरोपित नहीं करना चाहते। 'प्रिय' का अन्तिम मिलन प्रेमी के लिए 'महा-मिलन' ही है। अतः उसके वियोग में स्मृति का जल उठना और गरम-गरम आँसुओं का ढरकने लगना लौकिक अनुभूति का परिचित विषय है।

× × ×

पृष्ठ १०—हृदय मे विरहाग्नि जल रही है, पर मुझे यह जलन भी शीतलता प्रदान करती है—सेहत देती है। इसीलिए 'ज्वाला' शीतल है। चूंकि मै प्रिय के अभाव मे जी रहा हूँ—साँसें ले रहा हूँ, इसलिए मेरी वेदना बढ ही रही है। मेरी साँसे जिनका उनके अभाव मे चलना व्यर्थ प्रतीत होता है, समीर का ही काम करती हैं। जिस प्रकार हवा के झोंकों से आग की लपटें बढती हैं, उसी तरह मेरे हृदय की वेदना की लपटें साँसों के समीर से ऊँची ही उठ रही हैं।

यदि 'प्रिय' के ओझल हो जाने पर साँसें रुक जातीं, तो वेदना की आग उठती ही कहाँ से? वह भी साँसों के साथ ही सो जाती। जीवन में अब कोई 'अर्थ' नहीं रह गया। अतएव साँसें जिनसे शरीर जी रहा है, व्यर्थ ही चल रही हैं। 'शीतल ज्वाला' में विरोधाभास कितना अनुभूति पूर्ण है! घनानद ने भी कुछ ऐसा ही कहा है—

"धूम करैं न धरै गात
सीरो परै, ज्यों ज्यों, जरै
ढरै नैन नीर ..."

× × ×

पृष्ठ १०—(२) मेरे हृदय के प्रेम-समुद्र के भीतर वेदना का बड़वानल छिपा हुआ था। और मेरी आँखें प्रिय के रूप-दर्शन के अभाव में तड़पती थी—प्यासी मछली के समान जो पानी से पृथक हो जाने पर विकल हो उठती है। मेरी आँखों में प्रिय के रूप-दर्शन की प्यास की विकलता भरी है। आँखों को मछली की और प्रिय-दर्शन को 'रूप-जल' की उपमा दी गई है।

× × ×

पृष्ठ १०—आँखों से गरम आँसू टप-टप गिर रहे हैं। हृदय में प्रिय-विरह ने बेचैन उथल-पुथल मचा दी है। कवि ने इस विवशावस्था का कितना प्रलयंकर चित्र खींचा है! जब पृथ्वी प्रलय से अभिभूत होती है तब आकाश से उल्कापात होता है। तारे टूटने लगते हैं, समुद्र लहरों के साथ लहरा उठता है, पृथ्वी मे अस्तव्यस्तता छा जाती है, वह लुटी सी दिखाई देती है। धरणी में यदि हम नारी का आरोप करें तो नीलिमामय आकाश मानों उसके बिखरे हुए केश हैं। नक्षत्रों का टूटना और समुद्र के बुलबुलों का फूटना, प्रलयावस्था का द्योतक है। कवि को इन पंक्तियों में एक ऐसे असहाय व्यक्ति की तस्वीर खीचना अभीष्ट था, जिसके अभावमय हृदय मे उथल-पुथल मची हुई है; जिसे अपने शरीर को (धरणी, शरीर की द्योतक है) सँभालने तक की सुधि नहीं है। अतः उसके केश आकाश में बिखरे हुए से, खुले हुए दिख रहे हैं। शरीर की बेसँभाल अवस्था, मन की अत्यंत तीव्र व्याकुलता प्रकट करती है। व्यक्ति की आँखों से आँसू झर-झर झर रहे हैं, जिनसे ऐसा प्रतीत होता है मानों हृदय-समुद्र के बुलबुले ही फूटकर आँखों से बाहर निकल पड़े हैं; अथवा नक्षत्रों की माला ही टूट पड़ी है। (प्रथम दो पंक्तियों में उत्प्रेक्षा और संदेहालकार हैं।)

पृष्ठ ११—प्रिय के कोमल स्मृतिचरण ने मेरी हृदय-वेदना के छालों को छू दिया है। वे ही अब फूटकर और धीरे धीरे घुलकर आँसू के रूप में बह रहे हैं। कवि ने आँसुओं की 'करुणा के कण' से उपमा दी है।

(इन पंक्तियों में वीभत्स रस की अवतारणा रसाभास पैदा करती है। शृंगार में करुणा के मिल जाने से शृंगार तो चमक उठता है पर वीभत्स का मेल इसके सौन्दर्य को फीका कर देता है।)

× × ×

पृष्ठ ११—इस व्याकुल बना देनेवाली वेदना को अपने हृदय में पालकर कौन सुख को पुकार सकता है?—कौन सुख को अपने निकट देख सकता है? हमारा अनजान भोला ग़रीब (प्रिय के मिलन-सुख-वैभव से रंक) जागृत मन 'विरह-वेदना' में बेहोश है ; ऐसी दशा मे उसे सुख कहाँ नसीब होगा?

× × ×

मन मे बारबार अभिलाषायें उठ रही हैं ; साथ ही सोई हुई व्यथा भी जाग उठी है। अब सुख कैसे मिल सकता है? अब तो रोते रोते ही आँखें झप रही हैं। सुख की नींद कहाँ सो सकता हूँ?

× × ×

पृष्ठ १२—मेरा यह हृदय-कमल उसकी भौरों के समान काली अलकों मे उलझ गया था। ये आँसू उसी हृदय-कमल के मकरद हैं, जो आँखों से झरकर गिर रहे हैं। हृदय की उसासें ही साँसों के रूप में बाहर निकलकर पवन में मिल रही हैं। प्रेमी प्रिय की काली अलकों के सौन्दर्य पर रीझ उठा था और अब उसके विरह में वे ही 'अलकें' उसके जी को रुला रही हैं।

× × ×

पृष्ठ १२—जिस समय हृदय में प्रेम अंकुरित हुआ था और उससे जो उसमें मीठा मीठा दर्द होता था वह मिलनावस्था में मन को मादकता से भर देता था और उससे जी को भी अच्छा लगता था

परन्तु अब विरह में वही प्रेम की पीड़ा हृदय को सहलाती नहीं, हिला देती है—विचलित बना देती है।

× × ×

पृष्ठ १२—सुख नष्ट हो गया है, उमंगे सो गई हैं ; अतः जीवन भार हो गया है। अनिच्छापूर्वक ली गई साँसे बेगार ढोने के समान हैं। (बेगार कोई प्रसन्नता से नहीं करता) मैं जीना नहीं चाहता। यह हृदय जिसका उल्लास रूठ गया है, श्मशानवत् ही है, जहाँ केवल करुणा की ही सिसक सुन पड़ती है। यहाँ 'ढोने' शब्द में ही बेगार और 'अनिच्छा' का भाव व्यञ्जित हो जाता है।

पृष्ठ १३—पपीहा 'पीपी' पुकार रहा है, कोयल के स्वर से स्वभावतः ही रस झर रहा है ; पर मेरी जीवन-कहानी का करुण भाग आँसू से भीगा हुआ है। वह 'पपीहे' और कोयल की ध्वनियों से कैसे पुलक सकता है ?

पृष्ठ १३—ससार के व्यावहारिक बाजू को सामने रखते हुए कवि कहते हैं कि जो अपने सुख में ही डूबे हुए हैं—उसीमें अपने को भुलाए हुए हैं, और जिनकी व्यथाएँ सो गई हैं—जिनके हृदय की किसी की व्यथा को अनुभव करने की क्षमता ही पंगु हो गई है, उन्हें भला दूसरों के दुख को सुनने का अवकाश ही कहाँ मिल सकता है ?

कवि यहाँ शोषकवर्ग की मनोवृत्ति की ओर भी इङ्गित कर रहे हैं। जो सहृदय नहीं हैं, जिनमें किसी के आँसू देखकर दर्द की एक चमक भी नहीं उठती, उन्हें अपनी करुण-कथा सुनाने से लाभ ही क्या ? यदि कोई हमारी व्यथा सुनकर एक उसाँस भी भर लेता है, तो हमारे पीड़ित हृदय को भारी सेहत मिलती है।

× × ×

पृष्ठ १४—मेरे जीवन की समस्या इतनी जटिल हो गई है—इतनी उलझन से भर गई है कि मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। वह किसी योगी की जटा के समान कैसे बढ़ गई ? मेरे हृदय में भी अब शुष्कता की धूल उड़ रही है—नीरसता छा गई है—जटाजूटधारी योगी की

तरह मेरी यह अवस्था किसकी 'कृपा' का फल है? किसके कारण मैं ऐसी उलझन भरी स्थिति मे पहुँच गया हूँ! (कवि ने इन पंक्तियों में एक जटाधारी योगी का चित्र खींचा है। 'प्रिय' के अभाव में प्रेमी की अवस्था भी किसी 'योगी' से कम नहीं होती। 'सूर' की गोपियों ने भी ऊधव से यही कहा था कि हम विरहिणी 'योग' क्या सीखें; हम तो स्वयं योगिनी बनी हुई हैं। 'धूल' शुष्कता का प्रतीक है।)

× × ×

पृष्ठ १४—आँसू कब बरसते हैं? जब वेदना की अनुभूति अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है; खूब संचित हो जाती है—घनीभूत हो जाती है। वेदना की अनुभूतियाँ मेरे मन में स्मृति के समान छाई हुई थी। दूसरे शब्दों में मेरा सारा मन वेदना से व्याप्त था। स्मृति जब आती है तो सारा मन ही इससे भर जाता है। हमें जिस वस्तु का जब स्मरण आता है तब हमारा मन केवल उसी वस्तु का चिन्तन करने लगता है, उसमें वही वस्तु छा जाती है। कवि कहते हैं कि मेरे दिमाग़ में पीड़ाएँ पूर्ण रूप से छाई हुई थीं। जब संकट का समय आया—जब विरह की घड़ियाँ आई—तब वही जमा हुआ दर्द आँसू बनकर बरसने लगा। 'दुर्दिन' शब्द में 'श्लेष' है जिसके अर्थ (१) सकट का समय और (२) पानी बादल का समय है। कवि ने बरसात के समय का ही रूपक खड़ा किया है। 'घनीभूत पीड़ा' में पीड़ा के घनों की ध्वनि है। मस्तिष्क 'आकाश' और 'दुर्दिन' बरसात के द्योतक हैं।

× × ×

पृष्ठ १५—कवि को ऐसा भास होता है कि कोई उनकी दर्द-कहानी सुनकर द्रवित हो रहा है और उनके प्रति सहानुभूति से भर रहा है। वे कहते हैं—मेरे रुदन के स्वर मे क्या कोई वीणा बज रही है जिसे तुम सुन रहे हो? मेरे इन आँसुओं के तारों से (चूँकि आँसू लगातार बह रहे हैं। इसलिए उनका 'तार'—धागा ही बँध गया है।) अपनी करुणा का वस्त्र बुन रहे हो? दूसरे शब्दों में, मेरे ये अजस्र बहनेवाले आँसू तुम्हारे हृदय में करुणा का भाव पैदा कर रहे हैं।

पृष्ठ १५—मैं रो रोकर सिसकियाँ भर भर कर अपनी व्यथा तुम्हें सुनाता हूँ और तुम (उद्यान में) खड़े खड़े फूल की पँखुड़ियों को तोड़ते जाते हो और ऐसी मुद्रा प्रदर्शित करते हो मानो कुछ जानते ही न हो। तुम मेरी वेदना के कारण को जानकर भी अनजान बन जाते हो। तटस्थ रहकर मेरी व्यथा-गाथा को सुनते हो ! तुम्हारी यह तटस्थता मुझे अखर उठती है; मै और भी सिसक उठता हूँ। (प्रिय की उपेक्षा-मयी भाव भगी का कितना लुभावना चित्र है यह ! 'सुमन' में श्लेष है जिसके अर्थ हैं (१) सुन्दर या अच्छा मन (२) फूल।

(१) मेरे सुन्दर मन को तुम उपेक्षा प्रदर्शित कर तोड़ते जाते हो। अपने ही मन को सुन्दर कहने मे 'अहं' का भाव नहीं है; चूँकि उसमे प्रिय की तस्वीर खिची हुई है इसलिए वह स्वभावतः 'सुन्दर' है। ऐसे सुन्दर मन का नोचा जाना सचमुच निष्ठुर व्यापार है।)

× × ×

पृष्ठ १५—मेरी हृदय वीणा से जो तान उठती थी वह इतनी करुण थी कि मै स्वय झूमकर मुग्ध हो जाता था और अपना भान भूल जाता था। बलिहारी है उस तान की! (जिसकी दर्द भरी मीड़ लेकर स्वर निकलते थे वह कवि को कितना प्रिय था। यह इन पक्तियों से व्यञ्जित होता है। उसकी स्मृति जग जाने पर ऐसा प्रतीत होता था जैसे मन मे कोई संगीत बह रहा हो। और तब कवि उसी मे अपने को खो देते थे। स्मृति के साथ तन्मयता का भाव कितना आकर्षक है!)

× × ×

पृष्ठ १५—कवि कहते हैं—प्रिय के अभाव मे हृदय में शून्यता छा गई है। सूने स्थान को पाकर ही उसमें अनेक भावों का तूफान उठता है; दर्द बिजली की तरह रह रहकर चमक उठता है, उदासी और निराशाओं का समूह जमा हो जाता है।

(इन पंक्तियों में कवि ने नए ढग के प्रतीकों का प्रयोग किया है—'झझा झकोर गर्जन' से भावों की तीव्रता प्रकट होती है। 'बिजली' से रह रहकर दर्द का उठना जान पड़ता है, 'नीरद माला'—उदासी का चिह्न और 'शून्य हृदय'—आकाश का प्रतीक है। इस तरह कवि ने रूपक अलकार की इन पक्तियों मे अच्छी योजना की है।)

× × ×

पृष्ठ १६—(पद्य १, २)—जब मेरे हृपय में अत्यन्त उथल-पुथल मच जाती थी, और निराशा का घना अधकार छा जाता था—जब मै प्रिय-दर्शन के लिए व्याकुल हो उठता था, तब वह सहसा मेरे सामने बिजलो-सा झलक दिखाता और मुस्कुरा कर मेरे हृदय में रस की फुहिये बरसा जाता था।

(प्रलय घटा मे—हृदय की अत्यन्त उथल-पुथल का प्रतीक, तम-चूर्ण—नैराश्य का प्रतीक है।)

× × ×

पृष्ठ १६ (३)—मेरे लिए यह ससार असत्य रहा है, इसमें केवल तुम्ही सत्य थे; 'जगत्' तो क्षण क्षण परिवर्तनशील है, उसका सौन्दर्य भी स्थायी वस्तु नहीं है पर तुम्हारा सौन्दर्य सदा ही ताजगी लिए रहा है।

(ज्यों-ज्यो निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई
—मतिराम)

इस कल्याणमय प्रेम-पथ के केवल तुम्ही 'जनम-मरण' के साथी थे।

× × ×

पृष्ठ १७—(१,२,३)—तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा में मैने कितनी राते बिता दीं। जब सारा ससार सो जाता तब मै अपलक आँखों से आकाश की ओर निहारा करता। रात में जो तारे जलते हैं, वे ही मानों मेरे सँजोए दीप हैं; जिन्हें मैने आकाश-गगा में बहाकर तुम्हारी भेट कर दिए हैं।

(इन पक्तियों मे किसी स्त्री का नदी मे दीप जलाकर बहाने का

कितना सुन्दर चित्र आँखों के सम्मुख खिंच आता है !) आँखो का अपलक आकाश की ओर निहारने का भाव 'तारों के दीप जलाए' मे कितना सजीव हो उठा है ! 'निर्जन रजनी' से उस भींगी हुई रात का भाव व्यञ्जित होता है, जब 'सारा आलम सो जाता है'—सिर्फ दो ही आँखे जगती रहतीं और उनींदी होने से जलती भी रहती हैं। उनका यह 'जलना' ही दीप सँजोने के समान है।

इतनी प्रतीक्षा के पश्चात् मेरे प्रियतम मुझसे मिलने आए ; मै गौरवान्वित हो उठा। उनका मेरे गृह आना उनकी प्रतिष्ठा—उनकी प्रकृति—के अनुरूप नही था। इसीलिए उन्हें सहसा अपने बीच देखकर मैं अपने को बहुत भाग्यशाली समझ हर्षातिरेक से इठला उठा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो रात भर जिसका स्वप्न देखता था वही सवेरे सत्य बन आ गया ! अपने स्वप्न को सत्य होते देख किसे हर्षोन्माद न होगा ? प्रिय की प्रतीक्षा करते करते आँखें आँसुओं को बरौनियों में उलझाए झप जाती थीं—('सुख का सपना हो जाना, भींगी पलकों का लगना।') सपने में उसकी झलक दिखाई देती थी। आँख खुलते ही जब साक्षात् वही 'मुसक्याता सा आँगन में' आ रस बूंद बरसाने लगा तब मैंने अपने भाग्य को सराहा और हर्षातिरेक में इठला उठा। क्योंकि जिस बात की मैं स्वप्न मे कल्पना करता था वही सत्य बन गयी थी।

× × ×

पृष्ठ १७—(२)—जब मैंने तुम्हें देखा तो मीठी रात मुसकुरा रही थी, चाँदनी बरस रही थी। पहिली ही झलक मे तुम मेरे हृदय के इतने निकट आ गए कि ऐसा प्रतीत होने लगा मानो हम वर्षों के परिचित हों। (Love at first sight में यही भावना अन्तर्हित रहती है। प्रेमी के हृदय में प्रिय की प्रथम झाँकी से ही बिजली सी कौंध जाती है—वह उसी में मिल जाने के लिए अत्यधिक आतुर हो उठता है। उसे ऐसा भान होने लगता है, मानों उसकी 'पदध्वनि' बरसों की पहिचानी हुई हो। इस पद्य में मुसक्याती मधुराका में—चाँदनी रात में—'प्रिय' के "प्रथम दर्शन का भाव प्रकट होता है

और यह भाव भी कि जब प्रथम बार तुम्हें देखा तो तुम मधुवर्षी ज्योत्स्नामयी रजनी से सुन्दर लगे थे।)

× × ×

पृष्ठ १८—तुम्हे देखकर मेरा हृदय उसी तरह तुम्हारी ओर खिंच गया जिस तरह समुद्र की लहरों से चंद्र-किरणों के मिलते ही लहरो में चंद्र की ओर खिंचाव पैदा हो जाता है।

× × ×

पृष्ठ १८—कवि को स्मरण आता है कि वह किस प्रकार प्रिय के रूप को आँखों से एकटक देखा करता था और वह ऐसा रूप था जो किसी भी सुकवि की प्रतिभा को भाव-वैभव से भर सकता था। उसके रूप-दर्शन से ही सुकवि प्रतिभावान् बन सकते थे।

× × ×

पृष्ठ १८—उसकी निकटता के कारण मेरे हृदय का प्रेम-रस भीतर ही भीतर झरता रहता था—घुलता रहता था और उसके आकर्षण की माया में ठगा-सा—(मन्त्र मुग्ध-सा) मै अपना होश (चेतना) खो देता था। ('माधवी-कुञ्ज'—प्रिय का प्रतीक है और 'छाया' उसके सान्निध्य का द्योतक है।)

× × ×

पृष्ठ १६—प्रिय के आगमन के पूर्व मेरे हृदय में 'शुष्कता छाई हुई थी'। 'पतझड़' का मौसम बसा हुआ था, पर जब 'वह' आया तो मेरा हृदय हरा-भरा हो उठा—रसमय बन गया।

(पतझड़ 'शुष्कता', सूखी सी फुलवारी, 'नीरस जीवन', किसलय नवकुसुम सरसता और क्यारी—'हृदय' के प्रतीक हैं।)

× × ×

पृष्ठ १६—(२)—जब मेरा जीवन अपने अन्तिम प्रहर गिन रहा था, तुम अपने चद्रमा के समान सुन्दर मुख पर घूँघट डाल और अंचल में सँजोया हुआ दीप छुपाकर मेरी देहली पर आई। तुम्हारे इस प्रकार अचानक आगमन ने मेरे हृदय को कुतूहल से भर दिया। 'कुतूहल' इसलिए कि तुम अप्रत्याशित आई, और उस समय आई

जब मेरे जीवन की सूर्य-किरणें अपना अन्तिम उपसहार क्षितिज पर लिखने को उद्यत थीं। 'कुतूहल' इसलिए भी हुआ कि तुमने अपने 'रूप' पर आवरण डाल रखा था। मैं उसे देखने को उत्सुक था पर 'पर्दे' के कारण असमर्थता बढ गई थी। (इन पंक्तियों मे 'सूफ़ीवाद' देखने का भी कुछ सज्जन कष्ट करते हैं। सूफ़ी कहते हैं कि परमात्मा के रूप की ज्वाला इतनी प्रखर होती है कि उसे भौतिक आँखों से नहीं देखा जा सकता। अतः जब वे किसी साधक पर 'कृपा' करते हैं तो अपने मुख पर आवरण डाल कर ही उसे झलक दिखाते हैं।) इस पद्य में श्रद्धालु 'नारी' का चित्र स्पष्ट है। पर उसकी अन्तिम पंक्ति में 'तुम आए' से पुरुष का बोध होने लगता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि 'प्रसाद' की रचनाओं मे लिंगविपर्यय बहुत मिलता है। वे उर्दू शायरों की तरह ही 'प्रिय'—माशूक को लिङ्गातीत मानते हैं। फ़ारसी में उसे प्रायः पुल्लिंग में ही सम्बोधित किया जाता है। इससे एक लाभ यह होता है कि 'आलम्बन' की 'सीमा' 'असीम' को भी छूने लगती है और व्यापक अर्थ व्यञ्जित होने लगता है।

× × ×

पृष्ठ १६ (३) और पृष्ठ २० (१)—इन दो पद्यों मे यह बतलाया गया है कि "प्रिय" का रूप प्रेमी की आँखों में किस प्रकार बस गया। कवि कहते हैं कि जिस प्रकार घन मे बसी सुन्दर बिजली मे चंचलता लिए कौंध, आँखों मे काली पुतली, पुतली मे 'श्याम' की झलक; और मूर्ति मे प्राणों की प्रतिष्ठा-सी भली लगती और अपनी विशेषता स्थापित करती है। उसी प्रकार तुम्हारा सौंदर्य मेरी आँखो में बसकर मुझे सजीव बना रहा है। मुझमे स्वयं रूप की आभा भर रहा है। तुम्हारा सौंदर्य ऐसा है कि जिसकी समता लाखों मे भी नही हो सकती। वह सबसे निराला है। मेरे हृदय पर विश्व में बिखरे सौंदर्य ने कुछ भी प्रभाव न डाला—केवल तुम्हारे रूप ने ही उसमे अपनी रेखा अङ्कित कर दी है। मन पर प्रतिदिन अनेक अनुभूतियाँ सचित होती रहती हैं; पर तुम्हारी सौन्दर्यानुभूति ऐसी थी जो सबसे पृथक थी—सबसे अधिक प्रभावोत्पादक थी।

('प्रसाद' ने 'हृदय' और 'मन' में कोई भेद की लकीर नहीं खींची है। स्वयं मनोवैज्ञानिक भी इन दो की स्थितियों मे एकमत नहीं रखते।)

× × ×

पृष्ठ २०—यह मै मानता हूँ कि ससीम होने के कारण तुम्हारे 'रूप' की सीमा है। पर मैंने तुम्हे अपनाते समय अपने मन मे कोई सीमा नहीं बाँधी थी। मेरा समस्त मन ही तुमसे व्याप्त हो गया था। मै पूरे मन से ही तुमसे प्रेम करने लगा था। मेरे मन मे केवल तुम्हारी मूर्ति विराज रही थी। ('चिर-यौवन' साभिप्राय व्यवहृत है। 'प्रेमी' की आँखों में 'प्रिय' का यौवन कभी ढलता ही नहीं, वह सदा खिला ही रहता है। 'स्थूल' वस्तु का ही 'रूप' हो सकता है। अतः प्रिय के इहलोक के प्राणी होने से स्वभावतः उसका रूप उसके 'शरीर' का ही ओज हो सकता है। इसीलिये कवि ने 'प्रिय' के यौवन में रूप की सीमा स्वीकार की है। मन की कोई सीमा नहीं है; वह निस्सीम है। 'प्रिय' के 'सीमित' होते हुए भी वे असीम मन में समा गये थे। विरोधाभास द्वारा मन में केवल एक ही 'भाव' की व्याप्ति की कितनी स्वाभाविक व्यजना की गई है।)

× × ×

पृष्ठ २०—(३)प्रिय का वह कलापूर्ण सौदर्य इतना भला लगता था कि उस पर रूप के शैल राई के समान वारे जा सकते हैं। ('वारी' के स्थान पर यदि 'वारा' होता तो 'लिंग-विपर्यय' से अर्थ की किंचित् क्लिष्टता न रह पाती।)

× × ×

पृष्ठ २१—(१)—इस और आगे के कुछ पद्यो मे 'प्रिय' के स्थूल रूप का चित्रण किया गया है—

'प्रिय' का मुख विधु के समान सुन्दर था; उसके काले केश बँधे हुए थे; जिनमें मोतियों की माँग भरी हुई थी। कवि कल्पना करते हैं—किसने चंद्रमा (मुख) को काली ज़ंजीरों (काले-काले बालों) से बाँध दिया है? (माँग में मोती भरे देख कर कल्पना उड़ती है) सर्प

(बाल) के मुख (फन) में तो मणि रहते हैं पर इन सर्पों के मुख में 'हीरे' (मोती) क्यों भरे हैं ?

× × ×

पृष्ठ २१—(२)—प्रिय की आँखें 'श्याम' हैं; 'रतनार' हैं। उनमें जवानी का मतवालापन न जाने कितनी लालिमा भर रहा है। काली आँखों में गुलाबी रंग छाया देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी ने नीलम की प्याली (आँख) को माणिक (लाल रंग) की मदिरा से भर दिया हो।

× × ×

पृष्ठ २२—(१)—इन पंक्तियों में 'कजरारी आँखों' का प्रभाव वर्णित है। प्रेमी की आँखें प्रिय के रूप को देखते देखते उसकी कजरारी आँखों में ठहर जाती हैं। उनमें जो काजल की रेखा खिंची हुई है वह ऐसी सुन्दर लगती है कि हमारी आँखें उसी को घंटों देखने को ललच उठती हैं। वे वहाँ से हटना ही नहीं चाहती। वह कज्जल-रेखा काले पानी के समुद्र के किनारे के समान है—जहाँ उतर कर कोई जल्दी वापस नही लौटता।

(गुरुतर अपराध में अपने देश में पहिले 'काले पानी का दण्ड' दिया जाता था। अण्डमान टापू को भेजा जाना ही 'काले पानी का दण्ड' था,—जहाँ अपराधी काफी लम्बी अवधि बिताकर, यदि जीवित रहा तो, घर लौट आता था। 'प्रिय' का 'रूप-दर्शन' भी एक भारी अपराध है जिसकी सजा 'काले पानी' से क्या कम हो सकती है ? अतएव जिसने उसकी कजरारी आँखे देख ली उसका जल्दी छुटकारा संभव नहीं है—वह उन्ही में बँध जाता है। 'रूप' को 'अतृप्ति-जलधि' उचित ही कहा है। जिस तरह समुद्र का पानी खारा होने के कारण किसी की प्यास बुझती नहीं—तृप्त नहीं हो पाती, उसी प्रकार 'प्रिय' के रूप को बार-बार आँखों से पीकर भी उनकी प्यास नहीं बुझती। वे अतृप्त ही रह जाती हैं। वह जलधि जो प्यास को हमेशा जगाए ही रहता है—'अतृप्ति जलधि' ही कहा जा सकता है। 'नीलम की नाव निराली'—प्रेमी दर्शक की आँखों के लिए व्यवहृत हुआ है।)

पृष्ठ २२—इस पद्य मे 'प्रिय' की बरौनी को 'चितेरी' का गौरव दिया गया है। जो उसकी 'कजरारी आँखों' की ओर देखता है, या जिसकी ओर वह कटाक्ष करती है, वही आहत हो जाता है। कवि कहते हैं कि जो तेरी ओर या तू जिसकी ओर दृष्टि फेंकती है, उसकी आकृति तेरी पुतली में खिंच आती है। कवि कल्पना करते हैं कि बरौनी ही तूलिका है जो घायल हृदयों का तेरी क्षितिज के समान पुतली के पट पर चित्र खीचा करती है। और चित्र खींचने की इस कला में वह काफी चतुर भी हो गई है।

× × ×

पृष्ठ २२—इस पद्य मे 'मुसकुराहट' और 'भौहों' के प्रभाव का वर्णन है—

तेरे कोमल कपोल के अङ्क (अधर) मे सरल मुसकुराहट अङ्कित रहती है पर उसकी वक्रता वही समझ सकता है जिसने तेरी भौहों का बाँकापन—टेढ़ापन देखा है। तेरी सरल मुसकुराहट भी बड़ा कहर बरसाती है; वह 'सीधी सादी' दिखाई ही देती है, भौहे जो तूफान मचाती हैं उनसे हमें आश्चर्य नही होता, क्योंकि वे तो अपनी 'टेढी प्रकृति' प्रकट ही कर रही हैं पर तेरी मुसकुराहट में बड़ा छल है—बड़ी कुटिलता है। वह सीधी दिखाई देकर भी कुटिल कार्य करती है।

पृष्ठ २३—इस पद्य मे 'दाँतों' की शोभा वर्णित है—

मूँगे के सदृश लाल ओठों (सीपी सम्पुट) की सीपी में ये मोती के समान दाँत क्यों हैं? मोती तो हस चुगते हैं, पर यहाँ हस कहाँ हैं? ओठों के ऊपर तो शुक की चोच (नासिका) है। फिर इसे चुगाने को ऐसे मोती क्यों रखे गये हैं?

(इस पद्य की उपमाओं मे कोई ताजगी नहीं है। प्राचीन परम्परा का ही पालन है।)

× × ×

पृष्ठ २३—इस पद्य में 'प्रिय' की हँसी का उल्लासपूर्ण वर्णन है। उसकी हँसी में इतनी ताजगी, इतना मस्तानापन है कि मधुर उषाकाल में खिला हुआ कमल का वन भी यदि उसे (हँसी को) देख

ले तो लज्जित हो जाय। उसकी हँसी मे इतना माधुर्य और इतनी मस्ती है कि प्रातःकालीन खिले कमल के फूल भी मात हो जाते हैं। वे उसके सामने मुरझाये से दिखाई देते हैं। उषःकाल मे फूलो मे स्वयं ताज़गी रहती है पर वह ताजगी प्रिय की हँसी की ताज़गी और माधुरी को कहाँ पा सकती है! (इसमें अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अच्छी व्यञ्जना की गई है।)

× × ×

पृष्ठ २३—इस पद्य में 'प्रिय' के 'कानों' (कर्ण-शस्कुली) का वर्णन है।

हिंदी और सस्कृत साहित्य में भी प्रेयसी के 'कानों' के वर्णन की परम्परा नही मिलती। इस दृष्टि से इस वर्णन में नवीनता है—

मुख-कमल के पास ही कमलिनी के कोमल दो पत्ते (कर्ण-शस्कुली) सजे हुये थे। इसीलिए तो उन कानों में किसी का दुख-पूर्ण स्वर नहीं ठहर पाता था; क्योंकि कमल-पत्र पर 'जल-बिंदु' कहाँ स्थिर रहते हैं! वे तो नीचे ढरक ही जाते हैं।

(दुख को 'जल-बिन्दु' कहना भाव-पूर्ण है। दुःख मे—आँखों के पानी के रूप ही में बाहर प्रकट होता है।)

× × ×

पृष्ठ २४—(१)—इस पद्य मे दोनों बाहुओं का रूप वर्णन है। प्रिय क बाहुद्वय इतने सुन्दर और अलबेले लगते हैं कि कवि का आश्चर्य पूछ उठता है—ये किस कामदेव के धनुष की ढीली प्रत्यञ्चा है! क्या यह लता तो नही है या शरीर के रूप सरोवर मे उठने वाली नई लहरे तो नहीं हैं! (सन्देहालकार)

× × ×

पृष्ठ २४—(२)—प्रिय के पवित्र शरीर की शोभा का ओज इतना माधुर्य बरसा रहा था कि कवि कल्पना करते हैं कि यदि बिजली (जो स्वय उज्ज्वल और सुन्दर है) पूनो की चाँदनी (चन्द्रिका पर्व) में स्नान कर आये और उसके बाद उसमे जो कान्ति झलके वह 'प्रिय' की कान्ति की समता कर सकती है।

(प्रिय की शोभा बिजली और पूनो की रात की सम्मिलित शोभा के समान थी।)

× × ×

पृष्ठ २४—(३) प्रिय के मन मे चाहे 'छल' ही क्यों न भरा हो पर मेरा उसमे बहुत ही गहरा विश्वास था। मैं तो उस मायाविनी के निकट जाकर स्वयं कुछ सच्चा बन गया था। मैंने अपनी सच्ची भावनाओं की ही उसपर अञ्जलि चढाई थी।

× × ×

पृष्ठ २५—(१)—प्रिय ने प्रेमी की भावनाओ के साथ अपनी भावनाओं का रस नहीं उँडेला। तटस्थता ही प्रदर्शित की। अतः कवि के झुँझलाहट भरे उद्‌गार कहते हैं—

क्या प्रेमी केवल सौदर्य का ही पुतला था। उसमें बाहरी आकर्षण का ही साधन मात्र था? क्या उस रूप की आकृति के भीतर धड़कन लिए हुए हृदय नही था?

क्या यह तो नही था कि मुझे भावुक जानकर ही तटस्थ (जड़) रहकर अपने रूप का प्रदर्शन किया गया था?

× × ×

पृष्ठ २५—(२)—कवि कहते हैं 'उसकी' बिखरी अलकों ने ही मेरे जीवन मे उलझन पैदा कर दी। उन्होंने मेरे हृदय मे प्रेम का अकुर जमा दिया था। जब मै उनके बिखरे बालों पर मुग्ध हो गया तो मुझे अपना भान नही रहा। इसी अवस्था मे किसी ने मेरे जीवन का प्रेम-रस पी लिया। मुझे अपने वश कर लिया।

(इस पद्य मे भाषा की दृष्टि से रचना दोषमय हो गई है। पहिली पक्ति मे 'मेरे जीवन' कहा गया है और अन्तिम में 'हमारी पलकें'। 'हमारी' के स्थान पर 'मेरी' होना चाहिए था। यदि चतुर्थ चरण मे 'हमारी' अभीष्ट था तो प्रथम चरण में 'हमारे जीवन' चाहिए था। पर तुक के झमेले ने यह दोनों संभव नहीं होने दिया। प्रथम दो पक्तियों में विरोधाभास है। कार्यकारण लक्षणा का भी यह अच्छा उदाहरण है।)

× × ×

पृष्ठ २५—(३)—ज्यों-ज्यों मेरा आकर्षण उसकी ओर बढता जाता था, मेरे मन को शांति मिलती जाती थी। मुझे उससे प्रेम करने में सुख अनुभव होता था। यद्यपि मैंने अपने मन को उसके प्रेम मे बाँध दिया था, फिर भी मुझे भला ही लगता था—सुख ही मिलता था। उस समय दुख पास नही फटकता था—दूर ही रहता था। प्रेम का बन्धन सुख ही प्रदान करता था।

× × ×

पृष्ठ २६—(१) प्रकृति भी कवि के उल्लास मे हर्ष-विकम्पित हो उठो है—वृक्षो मे सुन्दर पत्ते झूम रहे हैं ; शाखाएँ परस्पर गले मिलो रही हैं, भौरे गूँज का अजीब तान छेड़ रहे हैं ! फूलों पर बैठ कर मान उनका चुम्बन ले रहे हों।

पृष्ठ २६—(२)—मधुपों की तान जब वन-उपवन मे गूँजती थी तो ऐसा प्रतीत होता था मानो मुरली बज रही हो। कलियाँ जो खिलती थीं तो ऐसा प्रतीत होता था मानों मधुपों की तान सुनकर वे हँस उठे हों। मधुपों की मीठी गुंजार कलियों के 'मधु'-भार को पारकर उनके कानों तक जैसे पहुँच जाती हों।

× × ×

पृष्ठ २७—(१)—इन पद्यों मे सयोग शृंगार का चित्रण है—'प्रेमी' का वक्षस्थल 'प्रिय' की धड़कन गिन रहा है (दोनों परस्पर आलिंगन बद्ध हैं) ; प्रिय के अधर प्रेमी के ओठों पर रखे हुए हैं और इस प्रकार प्रेमी को प्रिय के निश्वास के मंद मंद झोंके मलय पवन की मधु-गंध से रस सिक्त बना रहे हैं। प्रेमी कहता है कि मैं प्रातः प्रिय के मुख-चंद्र को नज़रों में भरकर (देखकर) उठता था। (उठने के पूर्व मै प्रियका आलिंगन और चुम्बन करता था।)

× × ×

पृष्ठ २७—(२)—जब प्रिय आलिगन मे बद्ध होती और उसका मुँह मेरे वक्षस्थल में छिपा होता उस समय मेरे वस्त्र प्रस्वेद से भींग उठते। मिलन की वह रात भी शिथिल हो जाती थी। प्रेमियों के भावातिरेक मे 'शरीर-मिलन' के क्षण शैथिल्य लेकर ही आते हैं। (इस पद्य में

चाँदनी रात का रूपक बाँधा गया है। प्रेमियों की मिलनावस्था ही सुख की रात है। वक्षस्थल मे छिपा हुआ प्रिय का मुख ही चंद्र है; वस्त्र-पट ही आकाश है और वस्त्र पर सात्विक भाव के कारण प्रेमियों के शरीर से निकले हुए जो स्वेद-कण छाये हुए हैं, वे ही मानो तारे हैं।)

× ×

पृष्ठ २७—(२)—अब कभी मेरा प्रिय से इस प्रकार का 'भौतिक मिलन' न होगा। इसी को कवि इस प्रकार कहते हैं—वह अलस भर सौंदर्य लिए प्रेमिका फिर से मिलन-कुञ्ज में सोकर मुझपर सुख की वर्षा नहीं करेगी। मै अब उसके साथ साथ सुख के स्वप्नों को नही देख सकूँगा। (चाँदनी रूपमयी प्रेमिका के लिए व्यवहृत हुआ है।)

× × ×

पृष्ठ २८—(१)—प्रिय का बिछोह हो गया है। अब तो मन के आवेग उसके 'दर्शन' के लिए रह रह कर छटपटा उठते हैं—मन में रूप-दर्शन की प्यास जगी हुई है। इस समय मेरा हृदय उसके अभाव मे 'शून्यता' अनुभव कर रहा है। कवि अपनी रिक्तावस्था का अनुभव कर 'प्रिय' से शिकायत करते हैं कि तुम्हीं ने मेरे मानस का समस्त रस पीकर मेरी हृदय-प्याली को खाली बनाकर फेंक दिया है। जबतक तुम्हें मेरे साथ रस अनुभव होता था, तुमने उसका उपभोग किया; अब जब मुझमें कोई नवीनता न रह गई, कुछ रस न बच रहा, तो तुमने अपनी आँखें फेर लीं।

× × ×

पृष्ठ—२८—(२)—हमारे मानस में प्रेम-कमल खिला और अब विरह में मुरझा गया। परिणामतः आँसू के रूप में उसके केशर-कण बिखर रहे हैं, और उसासों के रूप मे पराग उड़ रहा है।

× × ×

पृष्ठ २९—(१)—प्रिय का सान्निध्य सुख प्रेमी को अधिक समय तक आनन्दविभोर नहीं रख सका। इसीलिए अतृप्ति उसे रह रहकर व्याकुल बना देती है। वह उसी की स्मृति में चीख उठता है—

ने प्रिय की मिलन घड़ियाँ कुछ क्षण ही रहकर क्यों बीत गई ? उसकी मलय समीर सी ताज़गी भरनेवाली प्रेम-भावनाएँ मुझे ज़रा ही छूकर क्यों वापस लौट गई ? उसने जो मुझ पर दया-दृष्टि की थी वह अब क्यों फिर गई ?

× × ×

पृष्ठ २६—(२)—प्रिय के वियोग मे मैं अपना भाव खो चुका हूँ (विस्मृति है); उसकी स्मृति मुझमे मादकता भर देती है ; मन मूर्च्छित हो गया है । ऐसा प्रतीत होता है वे मिलन की सुख-घड़ियाँ सत्य नहीं थीं—मैने उनका अनुभव कदाचित् स्वप्न में किया था—मैं यह भी सोचने लगता हूँ, कदाचित् मैने उसके 'मिलन-क्षणों' की केवल कल्पना ही की है—वास्तव मे मेरा उनका कभी मिलन नहीं हुआ । अब तो 'मधुर-भावनाओं' की स्मृति ही एकाकी जीवन में गूँज रही है ।

(यहाँ 'मुरली' मधुर भावनाओं की प्रतीक है ।)

× × ×

पृष्ठ ३०—(१)—प्रिय के आगमन के पूर्व मेरा हृदय हीरे के समान कठोर था, पर जब उसके कोमल रूप के दर्शन हुए तो उसकी कठोरता चूर-चूर हो गई । सिरस के फूल के समान सुकुमाराङ्गी ने हीरे से कठोर हृदय को कुचलकर टुकड़े-टुकडे कर डाला—यह क्या कम आश्चर्य की बात है । मिलनावस्था में जो प्रेम बर्फ के समान शीतलता प्रदान करता था, विरहावस्था में वही अगारे बरसाने लगा है । (एक ही वस्तु भिन्न परिस्थितियों में भिन्न प्रभाव उत्पन्न करती है ।)

× × ×

पृष्ठ ३०—(२)—जब सूर्य के ढल जाने पर संध्या हो जाती है; चारों ओर धुँधलापन छा जाता है और कमल भी संकुचित हो जाते हैं—मानो भौंरों से छिपना चाहते हैं तब जी प्रिय-मिलन की उत्कठा मे विह्वल हो उठता था और हम प्रतीक्षा मे रोते रहते । (धुँधली संध्या उद्दीपन खिंचाव और 'रोना' अनुभाव हैं । प्रेमी डूबते दिन का धुँधलापन और सध्या का आगमन प्रिय की मिलन-उत्कठा को उत्तेजित करते थे । इसी से वह रो उठता था ।)

पृष्ठ ३०—(३)—मेरा हृदय मक्खन के समान स्निग्ध था। इसीलिए प्रिय की रूप-ज्वाला के संसर्ग से अविलम्ब दीपक के समान जलने लगा। अब विरह में निराशा भर गई है—अँधियारी छा गई है। दीपक जलकर जब बुझने लगता है तो वह धुएँ से स्थल को भर कर अँधियारी का चित्र खींचता सा प्रतीत होता है। और बुझते ही उसके चारों ओर अँधियारी छा जाती है। अतः जल जलकर एक ओर तो वह प्रकाश फेकता है और दूसरी ओर धुआँ छोड़कर अंधकार की सृष्टि करता है।

× × ×

पृष्ठ ३१—(१)—रात में चारों ओर शाति छाई हुई दिखलाई दे रही है। रस लोलुप भौरों की गुजार (मुरली) अब नही सुन पड़ती, क्योंकि अब वे कमलिनी के 'कोष' में बद हो गए थे। यह नीरव वातावरण प्रिय की स्मृति आँखों में बसाने लगा। मेरे निराश हृदय में प्रेम की यमुना बहने लगी। (वातावरण की नीरवता ही रति-भाव को उद्दीप्त कर रही थी।)

× × ×

पृष्ठ ३१—(२)—रात भर प्रिय की प्रतीक्षा करते करते मेरा मन प्रातः निराश होकर गिर जाता—उदास हो जाता। मेरे मन की अवस्था उस सिरस फूल के सदृश हो जाती जो वसत ऋतु में रात के पिछले पहरों में खिलता है और सूर्य की किरणों के स्पर्श से ही मुरझाकर जमीन पर गिरकर धूल में मिल जाता है। प्रिय की प्रतीक्षा में मै खिला सा रहता पर जब सूर्य की किरणें पूर्व के वातायन से झाँकने लगतीं तो मै निराश हो जाता—मेरा मन छिन्न-भिन्न हो जाता—मेरा उत्साह धूल में मिल जाता।

× × ×

पृष्ठ ३१—(३)—'प्रिय' की रात भर उनींदी आँखों से प्रतीक्षा करने के पश्चात् भी उसकी झलक नहीं नसीब होती तो सवेरे विरहोच्छ्वास छोड़कर रह जाता हूँ। प्रकृति भी कवि की विपन्नावस्था का साथ देती है। प्रातःकालीन समीर जो पहले मधु-सौरभ को लेकर प्रसन्न

रहता था अब इस तरह धीरे धीरे बह रहा है मानो वह भी किसी के विरह में व्याकुल हो उसासें छोड़ रहा हो।

× × ×

पृष्ठ ३२—(१)—प्रातःकाल पौ फटने के समय पूर्व दिशा पीत रंग से रंजित हो जाती है। कवि कहते हैं, सूर्य की किरणों के चुम्बन से मानो पूर्व-सुन्दरी के कपोल पीले पड़ गए थे। (यहाँ कवि ने लज्जा से कपोलों में लाली नहीं दौड़ाई। ऐसा प्रतीत होता है; 'सुन्दरी' चुम्बन का रसास्वाद नहीं ले रही थी—वह स्वय अनमनी थी। इसीसे उसके कपोलों मे स्वाभाविक लज्जा का रंग न छा, भय या दुःख की भावना संचारित हो गई थी। मै उसके दर्शन की लालसा से रात भर नभ की ओर देख देखकर प्रातः समय तक निराश हो जाता और तब मेरी आँखे झँप जाती थीं।)

× × ×

पृष्ठ ३२—(२)—प्रातःकाल पृथ्वी का हरा भाग ओस से भर गया था। कवि कल्पना करते हैं कि वे ओसकण नहीं थे, वे तो मेरे ही प्रेम के आँसू थे जो प्रभात समय मैने निराशावस्था में अपनी आँखों से गिराये थे। ऐसा प्रतीत होता है मै ही खाली बादल बनकर गगन में छा गया था और आँसुओ के मोती बरसा कर मैंने पृथ्वी के अंचल को भर दिया था।

× × ×

पृष्ठ ३२—(३)—मैने प्रिय के सौन्दर्य के दर्शन का जो रस एक बार पी लिया वह मेरे लिए नशा बन गया। जिस प्रकार मदिरा का प्याला ओठों से लग जाने पर ओठो की प्यास बढा देता है—वे बार बार उसे अपने से लगाने को व्याकुल होते रहते हैं; उसी प्रकार आँखों ने जब से उसके रूप-दर्शन किए तब से वे बार-बार उसे देखने को छटपटाने लगी हैं। रूप-दर्शन से ही मेरा हृदय ऐसा विकल हो उठा था जैसे ज़हर पी लिया हो। अब वही विष मेरे लिये मदिरा बन गया है। विष तो व्यक्ति एक ही बार पीना चाहता है पर मदिरा बार बार पीने की भावना करता है। मेरी आँखे बार-बार उसी रूप को

देखने को व्यग्र हैं । अब तो मेरे हृदय मे उन सुन्दर पलकों के प्याले का प्रेम जीवन की साध बनकर बस गया है । मेरा जी उन सुन्दर पलकों के प्याले को अपने ओठों से लगाने को व्यग्र हो गया है । मै उन सुन्दर पलकों को चूमना चाहता हूँ ।

× × ×

पृष्ठ ३३—(१)—जिस समय मैंने प्रिय का पूर्ण विकसित सौंदर्य देखा, मेरे हृदय का प्रेम समुद्र सा लहरा उठा ; जाग उठा । पूर्णिमा की रजनी जब अपने वैभव को लेकर खिल उठती है ,तब समुद्र की लहरे चाँद की किरणों का आलिङ्गन कर इतने वेग से बढती हैं मानो चाँद को ही छू लेंगी । अब उसके ओझल हो जाने पर मैं रत्नाकर ही में 'उसकी' परछाईं को चमकते हुए अनुभव करता हूँ ।

× × ×

पृष्ठ ३३—(२)—इस पंक्ति मे 'सौन्दर्य ही परमात्मा' (Beauty is god) की भावना व्यक्त की गई है—

सौंदर्य के पर्दे में परमात्मा ही हमे मधुर मुरली बजाकर मानो आकर्षित कर रहा है । संध्या और अमा-निशि में भी वही (परमात्मा) अपना खेल खेलता दिखाई देता है । (प्राकृतिक रूपों में भी परमात्मा की सत्ता का भान कवि को होता है ।)

× × ×

पृष्ठ ३३—(३) इस पद्य मे कवि ने आध्यात्मिक अनुभूति के साम्प्रदायिक विश्वास को प्रकट किया है । सूफियों की आस्था है कि 'परम-प्रिय' परमात्मा 'हाल' की स्वप्न की दशा मे आते हैं और साधक जब होश में आ जाता है तो वे ग़ायब हो जाते हैं—चले जाते हैं, उनके चले जाने पर हम एकाकी तड़पते रह गये—जैसे नशे के उतर जाने पर पुनः एक घूँट की प्यास हमें बेचैन बना देती है उसी तरह विरह हो जाने पर मिलन की उत्कठा व्याकुल बना देती है । महादेवी ने भी इसी भावना को यों व्यक्त किया है—

"वह सपना बन बन आता,
जागृति मे जाता लौट ।"

पृष्ठ ३४—मेरे हृदयाकाश में बिजली बनकर तुम आए और अब इन्द्र-धनुष के समान विचित्र (रंगीन) स्मृतियों को छोड़कर चले गए हो।

× × ×

पृष्ठ ३५—(१)—प्रिय की स्मृति पुष्प रस और मेघमाला के समान आती है जिसमें मेरे हृदय विपिन की कली सरस बनकर खिल उठती है। (स्मृति को मकरंद की समता इसलिए दी कि वह मकरंद के समान ही रस और मादकता उत्पन्न करती है। मेघ हर्ष का द्योतक है।)

× × ×

पृष्ठ ३५—(२) इसके पूर्व पद से कवि 'स्मृति' से व्याकुल नहीं होते—हर्ष मनाते हैं। वे कहते हैं—तेरी स्मृति के मधुरस की वर्षा से मेरा हृदय ओस-कण के समान भीग गया है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो मेरे मन-मन्दिर पर मोतियों की ढेरी बरसा रहा हो। कवि प्रिय की स्मृतियों को अपने मन मे बसाकर अपने को 'धनी' अनुभव कर रहा है।)

× × ×

पृष्ठ ३६—(१)—कवि अब प्रकृति के व्यापारों में प्रिय का स्पर्श अनुभव करने लगा है। इससे उसके तप्त हृदय को सेहत ही मिलती है।

'यह शीतल समीर जो बह रहा है वह तुम्हारा पवित्र स्पर्श कराता है। इसीसे जब वह मुझे छूता है तो मै सिहर उठता हूँ। और आँखें (सात्विक भाव से) आँसू बहाने लगती हैं।'

× × ×

पृष्ठ ३६—(२)—रात को मालती लताएँ तरु के सहारे (तकिया लेकर) लिपटी सोई रहती हैं और मै व्यर्थ ही प्रिय की प्रतीक्षा में आकाश के तारे गिनता रहता हूँ। (इस पद्य से पुनः कवि का विषाद रो उठता है। कवि अपनी स्थिति से समझौता करने का प्रयत्न करते हैं—कभी सफल होते हैं; कभी असफल।)

पृष्ठ ३६—(३)—कवि पुनः सँभलते हैं। कहते हैं—प्रिय ने ओझल होकर मेरे साथ निष्ठुरता अवश्य प्रदर्शित की है पर फिर भी मैं सर्वथा एकाकी नहीं हूँ—मिलन-आशा भरी विरह-निशा मे मै हूँ और प्रिय का विरह-दुख है। उसका दुख मुझे उसके निकट ही रखता है।

× × ×

पृष्ठ ३७—(१)—जब संध्या छा जाती है तो आकाश मे लालिमा फैल जाती है। उस समय कब रात की अँधियारी छा जाती है, हम सहसा नहीं जान पाते। आकाश की लालिमा को कब निशा की कालिमा ढँक लेती है, इसका ज्ञान हमें नहीं हो पाता। देखते-देखते ही मानो सोने के जाल पर काली चादर छाने लगती है। (इस पद्य मे 'प्रसाद' का नियतिवाद ध्वनित हो रहा है। कब सुख की घड़ियाँ दुख मे परिवर्तित हो जायँगी, हम नहीं कह सकते।)

× × ×

पृष्ठ ३७—(२)—अब मेरा हृदय तुम्हारे प्रेम-रग मे इतना अधिक रँग गया है कि प्रयत्न करने पर भी—आँसू के पानी से धोने पर भी वह नहीं छूटता। यह प्रेम का रंग कैसा अनोखा है। (यहाँ 'रग' प्रेम का प्रतीक है। विप्रलभावस्था मे प्रेम और गहरा हो जाता है।)

× × ×

पृष्ठ ३८—(१)—'तेरी आकृति इच्छाओं के सम्पूर्ण विकास के समान खिली हुई थी जो मेरे हृदय-पटल पर खिच आई थी और जिसके प्रति मेरी अभिलाषा जाग उठी थी।' प्रिय की मूर्ति प्रेमी के मन को भा गई थी। उसे देखकर ही उसके हृदय में प्रेम पैदा हो गया था। (इस पद्य में स्थूल की उपमा 'सूक्ष्म' से दी गई है। 'मूर्ति' को 'भावना कला का विकास' कहना नई कविता की प्रवृत्ति के अनु-रूप ही है।)

× × ×

पृष्ठ ३८—(२)—प्रिय का दर्शन पहले तो पथ-प्रदर्शित करने-

वाले दीपक के समान प्रतीत हुआ पर जब उसने हृदय मे प्यास भर दी तो वहा 'दीप' अंगारों का अंबार बनकर जी को जलाने लगा। (संयोग में जो वस्तुएँ अनुकूल फल देती थीं—वियोग मे वे ही प्रतिकूल फल देने लगीं।)

पृष्ठ ३८—(३)—मेरे हृदय की पीड़ा इतनी अधिक तीव्र हो उठी है कि अब उसमें दैन्य प्रदर्शन का भाव नष्ट हो गया है; वह अब साभिमान साहस के साथ अपनी अवस्था को प्रकट करती है। (अब प्रेमी अपने दर्द के विश्लेषण में कोई झिझक नहीं प्रदर्शित करता) जब वेदना पराकाष्ठा को पहुँच जाती है तो वह बाहर फूटना चाहती है और ऐसे समय उसमे कोई दुराव; कोई दैन्य नहीं रहता। प्रेमी अब बहुत स्पष्ट शब्दों मे प्रिय की निष्ठुरता का ढिंढोरा पीटता है क्योंकि वह अब वेदना को अधिक काल तक दबाकर नहीं रख सकता।

× × ×

पृष्ठ ३९—तुमने मेरे हृदय के तीव्र प्रेम का रस पीकर मुझसे ही मुँह फेर लिया। ('मदिरा' प्रेम का प्रतीक है। मदिरा पीने के बाद आँखो मे लाली छा जाती है। प्रिय ने प्रेम की मदिरा जी भर पी और जब उसके अतिरेक से वह ऊब गई तो उसने उपेक्षा का भाव धारण कर लिया। 'लाल आँख दिखलाने मे' क्रोध का भाव भी व्यञ्जित है।)

× × ×

पृष्ठ ४०—(१)—कवि संसार की 'छलना' से ऊब उठे हैं। वे उससे पनाह माँगते हैं। वे अपने को सर्वथा एकाकी अनुभव करते हैं। अतः स्वभावतः अपने मन (नाविक) से कहते हैं, मुझे इस अवस्था में जहाँ शून्यता ही दीख पड़ती है—तू किन उमङ्गों मे बहा लाया ? मन की ऐसी स्थिति क्या किसी ने कभी अनुभव की थी ?

× × ×

पृष्ठ ४०—(२)—कवि फिर मन ही मे उधेड़-बुन कर रहे हैं—

क्या मैं सांसारिकता के परे हो जाऊँ ! लेकिन वह स्थान कैसा है ? मुझे इसका भी तो ज्ञान नहीं है—वह कौनसी 'मानसिक' भूमिका है जहाँ पहुँचने पर मुझे सेहत मिलेगी ? मुझे तो अधकार ही दीख पड़ता है। मुझे यह भय नहीं कि मैं मन की अज्ञातावस्था में जाकर अपने अस्तित्व को खो बैठूँगा—मेरे इस जीवन ही का अन्त हो जायगा। मुझे यही दर्द है कि कहीं वहाँ भी 'छल' ही न समझ पड़े। इस पार का जीवन तो छद्मभय—छलमय है ही, मुझे दुःख है कि कहीं उस पार का अज्ञात लोक भी इसी पार की छाया न हो।

× × ×

पृष्ठ ४१—(१)—'अब मै जिस मानसिक स्थिति में पहुँच चुका हूँ उससे लौटने का मार्ग मुझे नहीं सूझ रहा है। मेरा मरुस्थल सा सूखा हृदय आँसुओं के नद में डूब चुका है। 'बालू' पर ही पद-चिह्न बन सकते थे पर वह तो (प्रेम के) 'पानी' में डूबी हुई है। यदि मेरा मन तर्कमय (शुष्क) रहता तो मै चिन्तन करता और मुझे अपनी स्थिति को बदलने मे सहायता मिलती—पर अब तो वह भावनामय हो गया है। अतः केवल उसी भाव मे 'बहने' के अतिरिक्त अब कोई मार्ग ही नहीं दीख पड़ता।

× × ×

पृष्ठ ४१—(२)—चारों ओर शून्यता फैली हुई है—एकाकीपन अनुभव करता हूँ। मुझमें न तो स्वय शक्ति रह गई है कि मै अपना मार्ग खोज लूँ और न किसी व्यक्ति का सहारा ही मुझे प्राप्त है। मैने तो अपने को ऐसे (भाव के) समुद्र में फेंक दिया है कि जिसका कोई किनारा ही नही दीख पड़ता। मुझे रह रहकर चिन्ता सताने लगती है कि मै नगण्य एकाकी व्यक्ति कैसे पार लगूगा ?

× × ×

पृष्ठ ४१—(३)—कवि अपने मन से ही कहते हैं—'मेरी यह भावना की नाव नैराश्य के समुद्र में जब तैर रही थी तब 'प्रिय' के मुख चन्द्र के दर्शन होते ही मुझे किनारा बहुत समीप दीख पड़ता था। (मुझमे कितनी ही घनी निराशा आच्छन्न रहती पर ज्यों ही

मुझे प्रिय का मुख दीख पड़ता—मैं आशा से भर जाता—मेरी कामना की पूर्ति हो जाती।)

× × ×

पृष्ठ ४२—(१)—मेरे सामने अब शुष्कता (प्रिय के अभाव मे चारों ओर नीरसता ही छाई हुई है) का सागर फैला हुआ है। अब 'प्रेम' ही इस विशेषता-शून्य जीवन की नाव को आँसू की धार में खेकर ले जाता है। (प्रिय के आगमन के पूर्व मेरा जीवन रेगिस्तान के समान था—शुष्क था—('पतझड़ था, झाड़ खड़े थे सूखे से फुलवारी मे') उसके आगमन से उसमें प्रेम का रस बह उठा और वह खिल उठा। पर विरह में जीवन पुनः शुष्क हो गया पर चूंकि प्रेम का झरना एक बार फूट पड़ा था। इसलिए विरह में चारों ओर शुष्कता छा जाने पर भी वह (झरना) आँखों की राह से बहकर मन को सूखने नहीं देता—जीवन की नाव को चलने योग्य बनाए हुए है।)

× × ×

पृष्ठ ४२—(२)—अन्तर का सागर अपने भीतर बड़वानल के समान जलन छिपाए हुए है। (हृदय में जलन भरी हुई है। प्रिय ने मुझे सताकर क्या प्राप्त कर लिया? मेरे हृदय सागर में उथल-पुथल मचाने से उसे कौन-सा सुख मिल गया?) उसे किस बात की 'चाह' थी? मथने से तो बाहर विष ही बह रहा है। मेरी वेदना मे जो तीव्र जलन है वह किसी 'विष' (एसिड) के समान ही है।

× × ×

पृष्ठ ४२—(३)—अब तो मुझे उसासें भरते-भरते 'सुबह से शाम हो जायगी और इसी तरह रात भी बीत जायगी।' ('छाया पथ'—संध्या का प्रतीक है।)

× × ×

पृष्ठ ४३—(१)—'मै तुम्हारी खोज मे नभ पृथ्वी दोनों की ख़ाक छान डालूँगा। यदि मै जान लूँ कि तुम किसी पथ से जा रहे हो तो मै 'धूल-कण' बनकर प्रसन्न हो उठूँगा। सौरभ बनकर उड़ूँगा

श्रौर तुम तक पहुँचूँगा । यदि तुम किसी नक्षत्र में होगे तो वहा भी जाने की चेष्टा करूँगा ।'

× × ×

पृष्ठ ४३—(२)—'मेरा जीवन शुष्क था—यंत्र के समान निर्जीव था । इसमें कुछ भी क्षमता न थी । जब तुमने उसमे प्रवेश किया तो उसमे मानो प्राण आ गए और वह दैदीप्य हो उठा ।'

× × ×

पृष्ठ ४३—(३)—'मेरे हृदय में उसका चद्रमा के समान रूप चमचमा रहा है । उसी शीतल किरण के सहारे ही मै जीवित रह सका । सौंदर्य के अमृत की बलिहारी ही है । चकोर 'अंगारों' में ही चॉद का सौदर्य पाकर उन्हे चुगने लगता है और इस तरह उसका जी अगारे चुगकर भी शीतलता लाभ करता है ।' (प्रिय का रूप वियोगावस्था में जी को जलाता ही है पर प्रेमी उसका ध्यान किए बिना नहीं रहता । उसे वह जलाकर भी शीतलता ही प्रदान करता है ।)

× × ×

पृष्ठ ४४—(१)—दीपक के भीतर जब तेल (स्नेह) होता है तभी वह जलता है और उसी समय वह पतग से मिलता है । (दीपक के जलने के बाद ही पतिंगे उस पर टूटते हैं ।) पतंग भी जब जलने लगता है तो वह प्रसन्न हो उठता है (फूल के समान उसका मन खिल उठता है) क्योंकि वह देखता है कि दीपक भी तो स्नेह से ही जल रहा है । (प्रेमी को यदि अपना उत्सर्ग करते समय यह विश्वास हो जाय कि उसका प्रिय भी उसके प्रेम मे अपने प्राणो को भीतर ही भीतर घुला रहा है तो उसके प्राणोत्सर्ग का उत्साह दुगुना हो जायगा ।)

× × ×

पृष्ठ ४४—(२)—इस आकाश-वन-समूह में जूही के समान तारे खिल रहे हैं । शशि ! तुम इन जूही के फूलों मे श्वेत कमल के समान क्यों मिल जाते हो ? (कवि अपने प्रिय को उलाहना देते हैं कि तुम तो असाधारण हो । अतः साधारण व्यक्तियों के बीच रहने मे तुम्हारी शोभा नहीं बढती ।)

पृष्ठ ४४—(३) संसार मे अकाल है। किसी के जीवन का अन्त नहीं हो जाना चाहिए। इसी भाव को कवि इन शब्दों में कहते हैं— कलियों के जीवन की इसी से सफलता नहीं होनी चाहिए कि वे अपने में रस भरकर खिल उठें और उन्हे जबरदस्ती कोई तोड़ ले जाय।

(नियति हमारे साथ हमेशा छल करती रहती है, हमारी इच्छा के विपरीत ही उसका कार्य-चक्र चलता है।)

× × ×

पृष्ठ ४५—(१)—कवि नियति से ही कहते हैं कि यदि मनुष्य अपने साथियों के साथ जीवन के कुछ क्षण व्यतीत करे तो तुम्हारी क्या हानि हो जायगी? तुम उनका क्षण जीते ही क्यों भरी जवानी मे (जीवन की यह जीवितावस्था ही है) अन्त कर डालती हो?

× × ×

पृष्ठ ४५—(२)—मैने प्रिय के चरणों मे अपने मन की सारी अभिलाषाओं को अञ्जलि बिखेर दी है। मेरा उससे यही आग्रह है कि इन सुमनों में रस कण हैं! इन्हे कीट के समान कुतरना निष्ठुरता का प्रदर्शन होगा।

× × ×

पृष्ठ ४५—(३)—यहाँ भी कवि का नियति-विश्वास उच्छ्वसित हो रहा है। काल बड़ा निर्मोही है। वह किसी पर सदय नहीं होता। उसके अँधियारे पट पर अज्ञात भाग्य-रेखाएँ अङ्कित हैं। जीवन में इतना सुख है और इतना दुख है—यह कोई नहीं कह सकता। नियति कब अपना चक्र घुमा देगी और कब सुख को दुख में परिणत कर देगी, कौन कह सकता है?

× × ×

पृष्ठ ४६—(१)—संसार कभी दुख का और कभी सुख का अनुभव करता है और इन्हीं अनुभवों के बीच उसका उत्थान-पतन होता रहता है। यह क्रम उसका प्रलय काल तक चलता रहता है। वह अपनी ही धुन में मस्त रहता है, वह दूसरो का हित-अहित सोचने को कभी नहीं रुकता। (संसार में सभी प्राणी अपने हो सुख-दुख,

उत्कर्ष-अपकर्ष की चिंता करते और अपना जीवन-यापन करते हैं। उन्हे अन्य व्यक्तियो की भलाई बुराई की ओर ध्यान देने की चिन्ता नहीं होती।)

पृष्ठ ४६—(२)—मनुष्य के जीवन मे विरह-मिलन दोनों का समावेश है। उसमें दुख-सुख दोनो का अनुभव होता है। चीज़ जैसी दिखाई देती है उसे उसी रूप मे ग्रहण करना चाहिए। उसका अपनी ही रुचि के अनुरूप स्वागत करना चाहिए, यह काम मन का है।

('मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'—तुलसी। यदि हम अपने मन को इतना तैयार कर लें कि वह जिस घटना मे दुख दिखाई देता है उसे सुख मान ले तो फिर दुख के अनुभव की तीव्रता बहुत ही कम हो जायगी। इसीलिए कवि कहते हैं कि जीवन मे सुख-दुख दोनों के प्रसग आयेंगे पर यदि उनको देखने का आपका अपना दृष्टिकोण है और इनको ग्रहण करने की आप के मत की तत्परता आपकी रुचि के अनुकूल है तो आपको हर स्थिति मे सतोष ही होगा। इसी प्रकार जीवन में जो एक बार मिला है वह कभी न कभी बिछुड़ेगा ही। अतः उसमें एक ही स्थिति सभव नही है। मन ही हमारी भावनाओं को सतुलित रख सकता है।)

× × ×

पृष्ठ ४७—(१)—कवि के जीवन में प्रिय ने आकर बेहद सुख भर दिया था पर उस असीम सुख को उसने पल भर मे ही चुपचाप चुरा लिया और वह ओझल हो गया। इसीलिए उनके प्राण विकल हो रो रहे हैं।

× × ×

पृष्ठ ४७ (२)—मै रात भर प्रतीक्षा करता रहता हूँ—जब उषा प्रभात होने की सूचना देती है तो मै निराश हो जाता हूँ। परन्तु जब सध्या रात का सदेश लेकर आती है तो मै प्रिय-मिलन की आशा मे हर्ष-विकम्पित हो जाता हूँ।

× × ×

पृष्ठ ४८—(१)—मालती के कुज मे जिस प्रकार चाँदनी रात

में चाँदनी की आभा भी झलक उठती है और लताओं का समूह होने से अँधियारी भी रहती है उसी प्रकार हमारे मन में सुख-दुख दोनों की स्थिति रहती है । ('चंद्रिका' सुख और 'अँधेरी' दुख का प्रतीक हैं ।)

× × ×

पृष्ठ ४८—(२)—आकाश में सुख ही भरा हुआ है । आकाश में 'ईथर' की लहरें हैं । कवि कहते हैं कि असीम सुखों से ही सारा आकाश-स्थान तरंगित हो रहा है । तारे जो उसमे दिखाई देते हैं वे भी मानो प्रसन्नता से हँस रहे हैं ।

× × ×

पृष्ठ ४८—(३)—ऊपर आकाश तो सुख का आगार है परन्तु नीचे पृथ्वी दुख-भार से ही दबी जा रही है । रो-रोकर ही दुख का सागर मानो भर रही है ।

× × ×

पृष्ठ ४९—(१)—(इस पद्य को 'प्रसाद' के नियतिवाद की चर्चा करते समय समझा दिया गया है ।)

× × ×

पृष्ठ ४९—(२)—मेरे मन मे सुख की कमी नहीं थी । उसमें इतना सुख था कि वह जल, थल और नभ मे भी न समाता (सुख की अधिकता प्रदर्शित करते हैं) उसी को प्रिय ने अपनी मुट्ठी मे रख लिया था । मुझे प्रेम का आश्वासन दे उसने मेरे साथ छल किया । और इस तरह मेरा अखंड सुख अपनी मुट्ठी मे कर वह ओझल हो गया ।

× × ×

पृष्ठ ४९—(३)—उसे ऐसा कौन सा दुख था, जो मेरा सुख लेकर वह भाग गया । बेहोश अवस्था मे उसने ओठों को प्रेम-रस (चुम्बन) से ज्यों ही प्लावित किया, मै सिहर कर जाग ही रहा था पर वह इसी बीच मे खिसक गया । (इस पद्य में भी सूफियो की हाल-अवस्था मे परमात्मा के आगमन के विश्वास की अभिव्यक्ति है ।)

पृष्ठ ५०—(१)—मैंने अपने जीवन से समझौता कर लिया था। मैं जिसका दुख जीवन में था उसी को सुख समझ लिया करता था। मैने अपने मन को इस प्रकार की अनुभूति के लिए तत्पर कर लिया था। क्योंकि मै जानता हूँ कि जीवन में घन में बिजली के समान मृत्यु भी अनिवार्य रूप से बसी हुई है। इसलिए अब दुख-सुख की पर्वा क्यों करूँ ? नियति की प्रत्येक देन को क्यों न सहर्ष मन पर झेलूँ ?

× × ×

पृष्ठ ५०—(२)—प्रिय मुझे दुखी देखकर प्रसन्न हो उठता है। इस तरह मेरी करुण भावना जब उसे प्रभावित करती है तो उसका रूप और खिल उठता है। (शृङ्गार रस मे जब करुण भाव प्रवाहित होने लगता है तो वह विकसित होकर अधिक सरस बन जाता है। यदि शृङ्गार से विप्रलभ का अग निकल जाय तो उसमें क्या 'रस' रह जायगा ?)

× × ×

पृष्ठ ५०—(३)—सुख-दुख ममत्व-मोह से होता है। यदि हम 'मोह' त्याग दें तो सुख-दुख कभी पैदा न हो। कोई 'ममता' का अर्थ अहंकार भी करते हैं। उनके मत से अहकार ही सुख-दुख का कारण है। हमारे मत से 'ममता' का अर्थ 'मोह' लेना अधिक उचित होगा। क्योंकि मोह से ही सुख-दुख की स्थिति उत्पन्न होती है। यदि 'प्रसाद' का 'ममता' से अहंकार अर्थ होता तो वे आगे 'हानि उठा कर' न लिखते। 'ममता' को त्यागना ही 'हानि उठाना' हो सकता है। सुख-दुख जो दो विभिन्न मानसिक अनुभूतियाँ हैं, वे तभी एक हो सकती हैं जब हम मन की ऐसी अवस्था बना ले जो सुख-दुख दोनों को ही एक भाव से देखें।

× × ×

पृष्ठ ५१—(१)—मेरी वेदना की घटाएँ आकाश में इतनी ऊँची चढ जाएँ कि उन्हें न तो सूर्य की प्रखर किरणें ही जला पाये और न उन पर चद्र की किरणें अपना प्रकाश ही डाल उन्हें संसार के दृष्टिपथ में ला सकें। मै अपनी वेदनाओं को अदृश्य और अप्रभावित ही रखना चाहता हूँ।

पृष्ठ ५१—(२)—(इस पद्य का 'प्रसाद' के नियतिवाद की चर्चा करते समय उल्लेख हो चुका है।)

× × ×

पृष्ठ ५१—(३)—कवि अपने प्रिय से कहते हैं कि जब तुम्हारा भ्रम दूर होगा और तुम पुनः मेरे हृदय की ओर झाँकोगे तो ज्ञात होगा कि वह तुम्हारी ही प्रतीक्षा में रहा है—उसमें किसी ने प्रवेश कर उजाला नहीं किया।

× × ×

पृष्ठ ५२—(१)—कवि का विश्वास है कि उनकी उसासें उनके प्रिय को अवश्य उन तक खींच लायेंगी—और वह भी उनके दुख को देख दुखी होकर उनके आँसुओं में अपने आँसू मिलायेगा। एक उर्दू शायर ने कहा भी है—

"वह खुद ही आ जायगा;
दर्दे दिल बढ़ने तो दो।"

× × ×

पृष्ठ ५२—(२)—जब संध्या हो जाती है तो मैं मिलन की प्रतीक्षा करने लगता हूँ और तुम्हारे मिलन की मनमानी कल्पना करने लगता हूँ। पर जब रात बीत जाती है और उषा की लालिमा आकाश में हँस उठती है तो मैं निराश हो जाता हूँ और मेरी मनमानी कल्पनाओं का अन्त हो जाता है। (तृतीय पंक्ति में 'रक्त' शब्द साभिप्राय है। वह निराशा ऐसी है जैसे किसी ने कलेजा चाक कर दिया हो और वह रक्तमय हो उठा हो।)

× × ×

पृष्ठ ५३—(१)—स्पष्ट है।

× × ×

पृष्ठ ५३—(२)—उसासों और आँसुओं से दुखी मन को आराम मिलता है। जब आँखें रो रोकर झँप जाती हैं तो नींद के बहाने सपना ही आता है जिसमे 'प्रिय' का मिलन-सुख ज़रा सेहत देता है।

पृष्ठ ५४—(१)—कवि रात से आग्रह करते हैं कि जब हृदय में व्यथायें सो जाएँ—चूँकि तुम ही उन्हें क्षण-विश्राम देने का श्रेय लूटती हो इसलिए वे तुम्हारी कृतज्ञ हैं—उनका उन्माद तुम ज़रा उत्तेजित कर देना जिससे वे कुछ समय तक और होश में न आयें। वेदनाएँ जितने समय तक सोई रहें, अच्छा है।

× × ×

पृष्ठ ५४—(२)—इस पद्य में भी रात से आग्रह किया गया है कि तुम जग को तन्द्रा से भर दो जिससे दुखी मनुष्य अपनी वेदना भूल सकें।

× × ×

पृष्ठ ५४—(३)—इस पद्य में 'रात' हो जाने की कामना की गई है। स्वप्नों के 'सोनजुही' के समान फूल तारे बनकर आकाश में बिखर जायें—आकाश गगा की पंक्ति भी श्वेत कमलों से भर जाय (आकाश गगा को अंग्रेज़ी में milky way कहते हैं। उसमें सफ़ेद तारो की क़तार बड़ी भली लगती है।)

× × ×

पृष्ठ ५५—(१)—इस पद्य में भी 'रात' से आग्रह किया गया है कि वह संसार में नींद का मादक रस बरसाकर दुखी व्यक्तियों को क्षण भर अपनी वेदना भूलने का अवसर दे।

'निशि ! तुम आकाश-मंडल की नीलिमा पर आसीन हो। वहीं से पृथ्वी पर कृपा-कटाक्ष के घन से निद्रा के नील कमल के समान 'रस' की वर्षा करो।' (पुष्प-रस में मादकता का गुण रहता है। मादकता के रस से ही बेहोशी या तंद्रा संभव है। इसीलिए कवि ने निद्रा को 'विस्मृति का नील नलिन रस' कहा है।)

× × ×

पृष्ठ ५५—(२)—वर्तमान जीवन सघर्ष का इस पद्य में उल्लेख है। यह युग इतना सघर्षमय है कि रात को भी विश्रान्ति नहीं चाहता। उसे भी दिन ही बना डालना चाहता है। इसीलिए कवि कहते हैं कि यह ससार जो बहुकाल से दुखी है, रात को भी दिन के प्रकाश की

कामना करता है। अतः 'रात' से प्रार्थना है कि वह अंधकार के ओस-कण बरसाकर इस पागल जगत् को सोने को बाध्य कर दे, जिससे उसे अपनी व्यथा और मानसिक संघर्षों को भूलने के कुछ क्षण तो प्राप्त हो जाएँ।

× × ×

पृष्ठ ५५—(३)—जब दुखी संसार सो जायगा तब उस पर कल्याण की वर्षा ही होगी। उस समय थका हुआ व्यक्ति सुख की नींद सोयेगा और कष्ट की चिन्ता मिट जायगी।

पृष्ठ ५६—कवि की कामना है कि संसार की यह निद्रा प्रलय काल तक बनी रहे—उसकी चेतना जागृत ही न हो और जीवन-समुद्र में कोई हलचल न हो (मनुष्य जागकर दैनिक व्यापारों में तल्लीन ही न हों)। इस निद्रावस्था मे ही फिर बिछुड़े हुए मिलेंगे।

× × ×

पृष्ठ ५७—(१)—अँधेरी रात में यद्यपि आकाश मे असंख्य तारक चमकते रहते हैं फिर भी पृथ्वी पर प्रकाश क्यों नहीं फैलता इसका उत्तर कवि की कल्पना देती है :—

तारों भरी रात ऐसी दीख पड़ती है मानो प्रकाश के बूँद पृथ्वी पर टपका रही हो पर वे बूँद घना काला अन्धकार ही चुपचाप पी जाता है। (अंधकार की सघनता से ही नक्षत्रों का धीमा प्रकाश पृथ्वी पर आलोक नहीं फैला पाता।)

× × ×

पृष्ठ ५७—(२)—जब मुझसे सुख विमुख हो जाय तब भी तुम कहते हो कि "मैं न रोऊँ!" (मन की कितनी पराधीन अवस्था है यह!)

× × ×

पृष्ठ ५८—(१)—अपने आँसुओं को आँखों मे भरकर उन्हीं में सुखा लेता है—अपने दुख-दर्द को किसी पर प्रकट न कर स्वयं क्यों इससे भीतर ही भीतर झुलसता रहता है! उल्का भी गिरते समय एक बार चमककर जी उठता है। अतः दुखी मनुष्य, तू भी एक

बार अपनी वेदना को संसार के सम्मुख खोलकर रख दे। तू जी उठेगा। (दबी वेदना शरीर के मर्मस्थल को जला डालती है।)

× × ×

पृष्ठ ५८—(२)—हर्ष और अवसाद दोनों को एक बनाकर तू नई सृष्टि का निर्माण कर।

× × ×

पृष्ठ ५८—(३)—इस पद्य में कवि दुखी मन से कहते हैं कि तू अपनी ही समस्याओं पर आँसू बहाना छोड़कर संसार में फैली हुई व्यथा को अपना ले। संसार की समस्याओं को अपनी समस्या बनाकर उनके दुख को अपना दुख बना ले तब संसार में तू अपनी ऐसी कीर्ति-कथाओं को छोड़ जायगा जिसे सुनकर लोक-मनोरंजन होगा। (यदि तू अपनी ही व्यथाओं में दुखित होता रहेगा तो तुझे जनता क्यों अपना समझेगी और तेरी 'चर्चा' करेगी? परंतु यदि तू लोक-दुख से दुखी होगा और उसे दूर करने की चेष्टा करेगा तो तेरा दायरा बढ़ जायगा, तू सभी की दिलचस्पी का पात्र बन जायगा।)

× × ×

पृष्ठ ५६—(१,२) और पृष्ठ ६० का (१)—

कवि अपनी वेदना को संबोधित कर कहते हैं कि तुम सदा जलती रहती हो। जब रात में चंद्रमा घंटों जागकर 'प्रातः' सो जाता है और सूर्य भी दिन भर तपकर संध्या में डूब जाता है, जब आकाश-गंगा की धारा में तारे डूब जाते हैं—याने जब तारे भी आकाश में लोप हो जाते हैं और घनों के बीच बिजली भी छिपी रहती है—जब रात में घना अंधकार छाया रहता है और दिन भी बादलों के घटाटोप से अंधकारमय हो जाता है—बिजली की चमक भी उसे क्षणभर भंग करने को नहीं चमकती—तब तुम हे मेरी वेदना की ज्वाले! अकेली ही जलती रहती हो। तुम विश्व-मंदिर में मणि-दीप के समान पवित्र हो—प्रकाशमयी हो! ('वेदना' यदि मनुष्यों के हृदयों में न हो तो संसार में जीवन अंधकारमय हो जाय।)

पृष्ठ ६०—(२ और ३) तथा पृष्ठ ६१ (१)—इन पद्यों में भी अपनी वेदना-ज्वाला के सदा जागृत रहने का वर्णन किया गया है।

आकाश के नीचे ऊँची लहरों का पर्वत सर पर उठाए हुए समुद्र अपने में बड़वानल को छिपाए हुए है और संसार को वेदना पहुँचानेवाली ज्वालामुखी की आग पर्वत के भीतर ही अपनी लपटों को फैलाए अंधकार में पड़ी रहती है क्योंकि उसके भाग्य में यही लिखा है ; परन्तु मेरी वेदना-ज्वाला को विश्राम नही है—वह सतत अकेली ही जलती रहती है।

× × ×

पृष्ठ ६१—(२)—वेदना से कवि कहते हैं कि तुम इस दुखी संसार के कष्टों को होली के समान जला देती हो। तुम सदा ही सौभाग्यवती बनी रहती हो—मानवता के भाल को ऊँचा उठानेवाली हो, उसका गौरव बढ़ानेवाली हो। (यदि मनुष्य के हृदय मे प्रेम की ज्वाला सो जाय तो उसमे कोमल भावनाएँ कहाँ से झाँक सकेंगी ! वह तब तो सचमुच मानवता के शिखर से नीचे ढुलक जायगा। प्रेम की आग भौतिक अशिव मनोविकारों के अनावश्यक 'कूड़े-कर्कट' को जला डालती है।) इसी भाव को अगले पद्य मे और भी स्पष्ट किया गया है।

× × ×

पृष्ठ ६१—(३)—पूर्व पद्य पढने के पश्चात् इस पद्य का भाव स्पष्ट हो जाता है।

× × ×

पृष्ठ ६२—(१)—प्रेम से जगत के संघर्ष (द्वन्द्व) मिट जाते हैं। वह दो विरोधी भावों को मिलाकर एक बना देता है। कवि अपनी प्रेम-ज्वाला से कहते हैं कि तुम अपनी लपटों से सारे संसार को आच्छादित कर दो, सारे संसार को प्रेममय बना दो। (आग की लपटों का रंग पीलापन लिए रहता है इसीलिए 'केसर रज' से उनकी समता की गई है। 'परिणय' से दो व्यक्ति नज़दीक आकर एक बनते हैं और यह कार्य 'जयमाला' से हो जाता है। प्रेम संसार

की दो भिन्न भावनाओं को एक बनाने में 'जयमाला' का ही कार्य करता है।)

× × ×

पृष्ठ ६२—(२)—जब मेरे हृदय मे प्रेम की ज्वाला जलती रहती है तो सारा दुखी ससार मेरी सहानुभूति—करुणा—का पात्र बन जाता है—मैं उसे अपने निकट अनुभव करने लगता हूँ। (प्रेम की भावना को व्यष्टि तक ही न रख जब हम समष्टि मे बिखरा देते हैं तो हम ससार के सभी चैतन्य प्राणियों के दुख मे दयार्द्र हो जाते हैं।)

× × ×

पृष्ठ ६२—(३)—जब हम किसी दुखी के प्रति प्रेम या सहानुभूति की भावना रखते हैं तो वह अपने हृदय पर कुछ भी आवरण नहीं रहने देता—अपनी व्यथा को खोलकर रख देता है। दुखी प्राणी अपना दुखड़ा सुनाकर निराश नहीं हो पाता क्योंकि हमारी सहृदयता उसके साथ होकर उसका दुख-भार हलका करती है।

× × ×

पृष्ठ ६३—कवि अपने हृदय की ज्वाला से कहते हैं कि तू संसार मे व्याप्त हो जा। ससार जो निर्मम बन गया है—प्रेम की भावना को लोप करता जा रहा है, उसमें तू अपनी जलन भर। संसार यदि प्रेममय बन जायगा तो वह सचमुच आकर्षण की वस्तु हो जायगा। यदि तू यह कर सकी तो विश्व के लिए कल्याणप्रद सिद्ध होगी। ('ज्वाला' को शीतल इसलिए कहा है कि उसका प्रभाव शीतलता ही प्रदान करता है। इसके पूर्व भी कवि ने कहा है—

"शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृग-जल का।")

× × ×

पृष्ठ ६४—(१ और २)—कवि प्रेम का इन पद्यों में आह्वान करते हैं—जिस प्रेम के सम्मुख कष्टमय जीवन भी सुखमय प्रतीत होता है, मृत्यु में भी अमरता का भान होता है, वही प्रेम! मेरे सरस हृदय में हँसते हुए जाग उठो! जिससे इस जीवन में फिर से मधुर भावनाओं का संगीत गूंज उठे।

पृष्ठ ६५—(१)—'मुस्कुराहट में बसे हुए प्रेम ! तुम मेरी उसासों में जाग उठो, मैं पुनः प्रेम के निःश्वास छोड़ने लगूँ'। (कवि की प्रेमल प्रकृति की इनमें कितनी स्पष्ट अभिव्यक्ति है। कवि प्रेममय जीवन ही बिताना चाहते हैं, वे उसी के दर्द में उसासें भरकर सुखी होना चाहते हैं।) तुम कभी हँसाते और कभी रुलाते हो। (आँसू और मुसकानों की आँखमिचौनी का नाम ही प्रेम है।)

× × ×

पृष्ठ ६५—(२ और ३)—'यह संसार तो सपना है उसमें यदि सच्चा जीवन कहीं है तो प्रेम के स्पन्दन में ही है। इसीलिए कवि कहते हैं कि मेरे सुन्दरतम अभिलषित भाव ! (प्रेम) तुम कल्याण से भरे हुए हो—तुम मेरे हृदय में जाग उठो।'

इच्छाओं से भरे हुए मानस-सरोवर में तुम कमल के समान खिल उठो और मधुपों की मीठी गुंजार के समान मुखर बन जाओ !

× × ×

पृष्ठ ६६—(१)—नीले आकाश को हम 'आशा' से ही व्याप्त देखते हैं पर उसमें हमें वास्तव में कुछ दिखलाई नहीं देता—'शून्यता' ही उसमे छाई जान पड़ती है। यदि करुणा की—एक दूसरे के प्रति समवेदना की—भावना नीचे पृथ्वी पर फैल जाय तो यह संसार सोने का बन जाय। (परस्पर प्रेम-भाव जागृत होने पर ही समवेदना पैदा होती है।)

× × ×

पृष्ठ ६६—(२)—प्रेम जब व्यक्तियों में जागृत होता है तो वे पुलक से भर जाते हैं और इस तरह उनमें नए संसार की सृष्टि हो जाती है। कवि कहते हैं कि प्रेम ! तुम खूब विकसित होकर पनप उठो जिससे कोमल हृदयों में रस संचारित हो सके।

× × ×

पृष्ठ ६६—(३)—कवि अपने 'प्रिय' से कहते हैं कि—संसार आकाश की ओर निहारकर तुमसे प्रेम रस की याचना करता है जिससे उसके दुखी हृदय में फिर से प्रसन्नता लौट आये।

पृष्ठ ६७—(१)—इस पद्य में कवि का विश्वास है कि सुख-दुख के संघर्ष के पश्चात् नवजीवन प्राप्त होता है और तब संसार हर्ष के आँसू बरसाता है।

× × ×

पृष्ठ ६७—(२)—यहाँ कवि अपने 'प्रिय' को प्रकृति के विभिन्न रूपों में देखने की साधना करते हैं। वे पूर्व की लाली में उसी का सुन्दर प्रतिबिम्ब देखते हैं, उषा में भी उसी की अलसाई आँखें उन्हे दीख पड़ती हैं।

"लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।"

× × ×

पृष्ठ ६७—(३)—कवि कहते हैं कि यदि अम्बर-पट पर उषःकाल में कुछ ऐसी भी आकृति खिंच जाय जो 'प्रिय' से मिलती-जुलती हो, उसकी एक झलक मेरे हृदय मे कितनी अधिक मधुवर्षिणी हो—उसके दर्शन से मेरे हृदय की उलझनें ही दूर हो जायें।

× × ×

पृष्ठ ६८—(१, २, ३)—कवि अपने 'प्रेम-प्रतीक' की कल्पना करते हैं:—

जिस 'मुख' पर नारी की स्वाभाविक सुन्दरता हँस रही हो और शिशु का पावित्र्य छलक रहा हो और गगन के रंग सा नील वस्त्र का अवगुण्ठन हो, उसे मेरी आँखें सँजोकर अपने मे रख सकती हैं और मेरे प्रेम-विह्वल हृदय में उल्लास का स्पन्दन बढ़ सकता है। ('नील वस्त्र' का परिधान 'प्रिय' में विशेष आकर्षण भर देता है। इसी से जयदेव-विद्यापति आदि मधुर भाव के कवियों की 'राधा' नील वस्त्र धारण कर, 'अमृत-रस' की अजस्र वर्षा करती है। 'नील-रंग' प्रेम की दृढ़ता का प्रतीक है, क्योंकि वह आसानी से नहीं छूटता।)

× × ×

पृष्ठ ६९—(१)—कवि की कामना है कि यदि ऐसी प्रेम-प्रतिमा मेरे दृष्टि-पथ में आ जायगी तो मेरी आँखें उसे अपने जीवन की समस्त कल्पनाओं की पवित्र साधों के साथ देखती रहेंगी। (मैं अपने 'मन-भावन' को सदा आँखों में बसाये रखूँगा।)

पृष्ठ ६६—(२)—काश मुझे वेदना में ही मिठास अनुभव होने लगती (मेरी एक के प्रति ही आसक्ति न रह जाती); मैं अपनी भावना को व्यापक बना सकता—सहृदय हो सकता।

× × ×

पृष्ठ ६६—(३) और पृष्ठ ७० (१)—स्पष्ट हैं।

× × ×

पृष्ठ ७०—(२)—मन में आवेग पूर्ण उठनेवाली तीव्र वेदना व्यर्थ नहीं जायगी; वह उस 'अनन्त' तक अवश्य पहुँचेगी और 'उसको' भी 'हिला' देगी।

× × ×

पृष्ठ ७१—(१)—'प्रिय' को देखकर प्रेमी की आँखों के कोने भींग उठते हैं। उस शीतलता के प्यासे 'प्रिय' के दर्शन की प्यासी आँखें उनके दर्शन के पश्चात् शीतलता अनुभव करती हैं। आँखों में चूंकि प्रिय की अनुकम्पा की माँग का भाव है इसीलिए 'दीनता' भी है।

पृष्ठ ७१—(२)—'उसके' मधुर प्रेम मे आँसू (फेनिल उच्छ्वास हृदय के) आँखो में भर आते हैं। वे 'सुकुमार आँसू' आँखों में आकर पलकों की छाया में ही मानो सो रहे हों।

× × ×

पृष्ठ ७१—(३)—जीवन के सुख-दुख दो किनारे हैं। वे आँसू की वर्षा से सिचते रहते हैं और इसी से जीवन क़ायम रहता है। तभी कवि कामना करते हैं कि जीवन की नदी में आँसू का जल सदा भरा रहे। (सुख-दुख दोनों के अतिरेक मे आँसू बहकर जीवन मे समरसता बनाए रखते हैं।)

× × ×

पृष्ठ ७२—(१ और २)—जिस प्रकार नदी-तट पर कहीं भी खड़े होकर देखने पर 'प्रवाह' मे 'चंद्र का प्रकाश' हर स्थल पर दिखाई देता है; उसी प्रकार जब वेदना जाग्रत होती है तो आँसू बहते हैं और मन के सारे कलुष को धो देते हैं। (चंद्र की किरणें जिस तरह नदी के

प्रवाह में हर जगह अपनी ही आभा छिटका देती हैं—सब जगह धवलता ही छाई दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार जब वेदना जाग उठती है और आँसू बहने लगते हैं तो हमारी भावनाएँ पूत हो जाती हैं ।)

× × ×

पृष्ठ ७२-(३)—कवि की कामना है कि पलकों की सीपी में समुद्र लहराने लगे, (आँसू से वे भर जायें) और यदि किसी के दुख पर करुणा जागृत होने से उनमे आँसू आये हों तो मन में कितना उल्लास छा जायगा, इसका वर्णन नहीं हो सकता।

× × ×

पृष्ठ ७३—(१)—'जब मेरे जीवन-सागर मे निराशा का घना अंधकार छा जाय तब वेदने! समुद्र के प्रकाश-स्तम्भ (Light house) के समान तुम धीमी-धीमी जल कर मेरा पथ-प्रदर्शन कर देना।'

× × ×

पृष्ठ ७३—(२)—'मन मे जितनी वेदनाएँ छुपी हों वे बाहर फूट निकलें।'

× × ×

पृष्ठ ७३—(३)—कवि की कामना है कि जीवन में वेदना व्याप्त हो जाय। यह शरीर (धमनी के इस बंधन) रिक्त न रहे। (प्रेम की) वेदना को अपने में भरे रहे।

× × ×

पृष्ठ ७४—(१)—इस पद्य मे वेदना की जलन को सबोधित किया गया है—तुम सदा से जीवन के साथ सम्बन्धित हो; दुनिया के दुख में तुम्हीं साथी हो। जब ससार सुख में डूबकर आलस में ऊँघने लगे तो तुम जागकर उसमें नया जीवन भर देना। (जब तक मनुष्य के हृदय में किसी बात की वेदना नहीं उठती वह अपनी हर स्थिति से संतुष्ट रहता है। 'वेदना' ही मनुष्य को उत्कर्ष पथ पर ले जाती है।)

× × ×

पृष्ठ ७४-(२)—प्रेम-वेदना की ज्वाला से संसार की सारी

कालिमा जल जाती है। और तब पाप नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती। चारों ओर पवित्रता चमकने लगती है।

× × ×

पृष्ठ ७५—(१)—जब ससार सुख-नीद में सो रहा है तब तुम कौन मेरे मन में जाग उठी हो?

× × ×

पृष्ठ ७५—(२)—कवि को भान होता है कि सदा जीवन के साथ रहनेवाली वेदना ही जो आँसुओ के साथ रहती है, जाग उठी है।

× × ×

पृष्ठ ७६—(१)—जब मै प्राकृतिक सौंदर्य में तुम्हें (वेदना को सबोधन करते हैं) भूल जाता हूँ तब तुम्हीं हृदय में कूक के समान मिठास भर कर छा जाती हो।

शेष पृष्ठों का अर्थ सरल है।

परिशिष्ट (ख)

जयशङ्कर प्रसाद

जीवन-झलक

सन् उन्नीस सौ अट्ठाइस; दिसम्बर का महीना, सुबह का समय; बर्फीली हवा बह रही थी, काटती सी; नगवा (हिन्दू विश्व-विद्यालय) की सड़क पर इक्के की तलाश में हम खड़े थे। "खटर-खटर" वह आ रहा था; आ गया। मटमैले रंग की चादर में काँपते हुए इक्केवान ने पूछा—

"कहाँ चली बाबू?"

"शहर।"

"गुधौलिया! चौक! लंका! कहाँ?"

"सराय गोबर्धन।"

"आवा, बैठा।"

× × ×

हम अपने एक मित्र के यहाँ सराय गोवर्धन पहुँचे। वे आँखे मल-कर खड़े ही थे।

थोड़ी ही देर में उन्होंने कहा—"देखते हो, वे कौन हैं?"

मैंने देखा—ठिगना गठा हुआ शरीर, गोल मुख, "बारहवर्णी" स्वर्णाभार से दैदीप्यमान। कहा—"मैने इन्हें 'माधुरी' में देखा है। ये जयशङ्कर प्रसाद हैं।"

"चलोगे मिलने?"—मित्र ने पूछा।

"तुम तक आते समय मन में तुम ही न थे, ये भी थे।"—मुस्कुराकर मैंने कहा।

× × ×

हम सब उनके स्थान पर गये। परिचय-शिष्टाचार के पश्चात् हम उनके पास बैठ गये। उस समय 'आँसू' का प्रकाशन हो चुका था, उसकी मादकता से नवयुवकों का हृदय झूम-झूम उठता था। कविता में वह 'छायावाद' का युग कहा जाता था। छायावाद शब्द पर ख़ूब चख़-चख़ मची हुई थी। स्वर्गीय आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अनन्त से टूट पड़ने वाले इस 'वाद' की रचनाओं की 'सुकवि किङ्कर' के वेष में बड़ी कड़ी आलोचना की थी। स्व० आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल की भी भौंहें तन रही थीं। उनकी आलोचनाओं में ऐसी कविताओं के प्रति यह झुँझलाहट भरी आवाज़ सुन पड़ती थी—

'लोगन कवित्त कीबो खेलि करि जान्यौ है?'

नयी प्रवृत्ति के समर्थकों में भी दो मत थे। एक इन कृतियों में अध्यात्मवाद—आत्मा-परमात्मा का 'विरह पीड़न' और दूसरा लौकि-कता याने शुद्ध 'प्रेम की पीर' ही देखता था। उस समय भी मुझे दूसरा मत ही अधिक साधु प्रतीत होता था। काशी के 'आज' में छायावाद-रहस्यवाद पर जो विवाद छिड़ा था उसमें भाग लेते हुए मैंने 'प्रसाद' की रचनाओं में प्रेमवाद ही का प्रतिपादन किया था। 'आँसू' के सम्बन्ध में भी यही धारणा प्रकट की थी। जो व्यक्ति रहस्य-वादी के गौरवपूर्ण नाम से स्मरण किया जाता है, उसे मैं लौकिक भावनाओं का स्रष्टा कहने का दुःसाहस कर चुका हूँ। अतः वह मुझसे

किस तरह खुले हृदय से मिल सकेगा ?...मैं सोच रहा था। इतने ही में मैंने सुना—"आँसू' सुनोगे ?"—मेरे मित्र बोल रहे थे।

"भला ऐसा अवसर और कब मिलेगा ?"—मैंने मित्र का समर्थन किया।

'प्रसाद' ज़रा 'हाँ-ना' के बाद ही राज़ी हो गए। सुखासन में बैठे-बैठे वे—

"इस करुणा कलित हृदय में, क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में, वेदना असीम गरजती ?"

गा उठे; गाते ही गए, 'आँसू' समाप्त होने तक। कितनी तन्मयता—भाव-मुग्धता उनके बदन पर अंकित थी ! उनकी वाणी में मिठास थी—छिपा-सा दर्द भी फूटने की चेष्टा करता था। विदा के समय अपनी दो-तीन पुस्तकें भी उन्होंने भेंट कीं। दूरी लेकर गया; निकटता पाकर लौटा।

× × ×

"'प्रसाद'जी का मानसिक धरातल सचमुच बहुत ऊँचा है। उनका हृदय रस का ख़ज़ाना है। मेरी धारणा थी, 'आज' में उनके सम्बन्ध में जो दो चार अप्रिय वाक्य मेरे द्वारा लिखे गए थे उनका उनके मन पर असर होगा।"—मैं कह गया।

मेरे मित्र बोले—"नहीं जी, तुमने तो कुछ भी नहीं लिखा। वे कड़वी से कड़वी आलोचनाएँ पी जाते हैं।"

"शंकर, जिस तरह काल कूट !"—मैंने कहा।

"और क्या ? तभी तो उन्हें कहते हैं 'जयशङ्कर'"—मित्र बोले और सब हँस पड़े।

× × ×

सन् उन्नीस सौ अट्ठाइस के बाद सन् उन्नीस सौ अड़तीस में फिर काशी गया। उस समय गोबर्धन की 'सराय' सूनी थी, 'शंकर' अन्तर्धान हो गए थे। उनका 'प्रसाद' बँट चुका था—केवल उनकी जय-ध्वनि सुन पड़ती थी। आज भी वह सुनाई दे रही है, 'कल' भी देगी।

जिज्ञासा थी—काश 'प्रसाद' के जीवन की झाँकी देखने को

मिलती ! जानता, कवि ने अपने को अपनी कृतियों मे किस तरह छिपाने का कौशल किया है। कवि के जीवन की खोज दो प्रकार से की जाती है—एक; कवि की कृतियों से; जब वह अपने सम्बन्ध में उनमे कुछ लिखता है। दूसरे; कवि के सम्बन्ध मे प्रचलित किंवदन्तियों, उसके परिचितों द्वारा लिखित सस्मरणों आदि से। पहले प्रकार से कवि के जीवन का जो ज्ञान उपलब्ध किया जाता है उसे भीतरी साक्ष्य और दूसरे प्रकार से प्राप्त ज्ञान को बाहरी साक्ष्य कहते हैं। 'प्रसाद'जी ने अपने जीवन के विषय में स्वयं बहुत कम कहा है। काशी के 'हंस' के आत्म-कथांक में हिन्दी के बहुत से रथी-महारथियों के आत्म-चरित्र छपे हैं। उसमें प्रेमचंदजी के बड़े आग्रह पर 'प्रसाद'जी ने अपना परिचय निम्न पंक्तियों में दिया था।

"मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रही पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त-नीलिमा मे असख्य मानव इतिहास—
यह लो, करते ही रहते हैं, अपना व्यंग्य मलिन उपहास।
तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी-बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे—यह गागर रीती।
किंतु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।
यह विडम्बना, अरी सरलते ! तेरी हँसी उडाऊँ मैं।
भूलें अपनी, या प्रवन्चना औरो की दिखलाऊँ मै।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की ?
अरे खिलखिलाकर हंसते होने वाली इन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया।
आलिङ्गन में आते आते मुसक्याकर जो भाग गया।
जिसके अरुण-कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया मे।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की।
सीवन को उधेड़कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की ?

"छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्म-कथा ?
अभी समय भी नहीं—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।"

उक्त पंक्तियों में हमे कवि ने अपने सांसारिक जीवन की घटनाओं का विवरण नहीं दिया। उन्होंने सांकेतिक भाषा में अपनी आशा और निराशाओं का एक करुण चित्र अवश्य प्रस्तुत किया है। जिससे हम निम्न अनुमान निकाल सकते हैं—

(१) 'प्रसाद'जी ने किसी से प्रेम किया था।

(२) उसकी रूप-माधुरी ने उन्हें आत्म-विभोर बना दिया था।

(३) किसी कारणवश वह उन्हे प्राप्य न हो सका।

('आलिंगन में आते-आते मुसक्याकर वह भाग गया।") अतः उन्हें उसका अभाव विह्वल बनाता रहा।

(४) प्रिय की सजल स्मृति उन्हे आजीवन बनी रही और उन्हें काव्य की सरस प्रेरणा प्रदान करती रही।

बाह्यसाक्ष्य में हमे उनके परम स्नेही श्री विनोदशंकर व्यास के संस्मरण प्राप्त होते हैं। उन्होंने लिखा है—" 'प्रसाद'जी की अल्हड़ जवानी में भी एक प्रेम घटना घटी थी। यह मुझे बाद में पता लगा। १३ फरवरी १९३६ ई० को मैंने उनसे पूछा—'आपकी रचनाओं में प्रेम का एक उज्ज्वल हिस्सा छिपा हुआ है, लेकिन मुझे आपने इतने दिनों मे भी यह नहीं बतलाया कि आपकी वह अज्ञात प्रेयसी कौन थी ?' उन्होंने जो कुछ उत्तर दिया। उसके पश्चात् फिर इस सम्बन्ध में मैंने उनसे कुछ नहीं पूछा।" व्यासजी की इन पंक्तियों से भी हमारे उक्त निष्कर्षों का समर्थन होता है। 'प्रसाद' के जीवन का यह अंग जानना इसलिए आवश्यक है कि उनकी कृतियों में वह स्पन्दन का काम कर रहा है।

उनके चरित्र पर प्रकाश डालते हुए विनोदशंकरजी लिखते हैं—" 'प्रसाद' का सामाजिक जीवन बहुत ही स्पष्ट था। मैंने उन्हें सदैव सात्विक पाया। पान को छोड़कर उन्हें और कोई व्यसन नहीं था।

वह भाँग तक नहीं पीते थे—मांस-मदिरा से हार्दिक घृणा सी थी। चौदह वर्ष तक प्रायः प्रतिदिन साथ रहते हुए भी मैंने उनमें कोई दुर्गुण नहीं देखा। . 'प्रसाद'जी का व्यायाम की ओर बचपन ही से अभ्यास था। वह एक हज़ार बैठक और पाँच सौ दण्ड अपने ज़माने में प्रतिदिन करते थे। फल, दूध और घी के अतिरिक्त आधा सेर बादाम प्रतिदिन खाते थे। जवानी में ढाका के मलमल का कुर्ता और 'शान्तिपुरी' धोती पहनते थे। लेकिन बाद में खद्दर का भी उपयोग करते रहे। जाड़े में सुँघनी रंग के पट्टू का कुर्ता अथवा सकरपारे की सीयन का रुईदार ओवरकोट पहनते थे। आँखों पर चश्मा और हाथ मे डंडा; प्रसादजी का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था।"

प्रसाद जी ने अपने जीवन में पुरस्कार रूप में एक पैसा भी किसी पत्र-पत्रिका से नहीं लिया। निस्वार्थ भाव से साहित्य-सेवा करते रहे। हिन्दुस्तानी एकेडमी से ५००) और नागरी प्रचारिणी सभा से २००) पुरस्कार उन्हें मिला था। यह ७००) भी उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा को अपने भाई के स्मारक स्वरूप दान दे दिया।......उन्होंने कभी किसी कवि-सम्मेलन अथवा सभा का सभापति होना स्वीकार नहीं किया। कवि-सम्मेलनों में अपनी कविताएँ सुनाना उन्हें पसन्द न था।.....(वे) धार्मिक मनोवृत्ति के पुरुष थे।......शिव के उपासक......। आचार व्यवहार में भी आस्तिक थे। किसी के हाथ की कच्ची रसोई खाने तथा जूता पहनकर पानी आदि पीने से परहेज़ रखने में भी वह दृढ़ थे। अपने अन्तिम समय तक जब पुजारी प्रतिदिन की तरह पूजा करके शिव का चरणामृत, बेलपत्र और फूल लाता तो वह उसे श्रद्धा से आँखों और मस्तक पर लगा लेते।

प्रसाद जी बड़े हास्यप्रिय थे। वह बड़ा सुन्दर मज़ाक़ करते थे, मित्रमंडल में अपने अन्तरंगों के साथ।

'उन्हें पुष्पों से अधिक प्रेम था। उन्होंने अपने मकान के सामने एक छोटा सा बगीचा लगाया था .. तरह तरह के फूलों की क्यारियाँ बनी थीं। गुलाब, जूही, बेला, रजनीगंधा, इत्यादि जब फूलते तो मुग्ध होकर वे देखते।......पारिजात के वृक्ष के नीचे एक पत्थर

की चौकी थी। उसी पर बैठकर प्रसाद जी अपनी रचनाएँ सुनाते थे।' (आशा है, प्रसाद जी के मित्र एवं साहित्य प्रेमी उस ऐतिहासिक पारिजात वृक्ष और पत्थर की चौकी को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न करेंगे।)

इतना सब पढ़ चुकने के बाद भी आप जानना चाहते हैं कि 'प्रसाद' जी कौन थे? किस वंश में उत्पन्न हुए? उनका पारिवारिक जीवन किस प्रकार व्यतीत हुआ?

प्रसाद जी का जन्म सं० १९४६ में काशी में कान्यकुब्ज वैश्य वंश में हुआ था। आपके पूर्वज 'सुँघनीसाहु' कहलाते थे। आपके पितामह को काव्य के प्रति अनुराग था; दानी इतने थे कि लोग उनका 'जय महादेव' कहकर अभिवादन करते थे। कहते हैं काशी में अभिवादन का यह सम्मान या तो काशी-नरेश को प्राप्त है या सुँघनीसाहु के व्यक्ति को। आपके यहाँ कविमण्डली जमती—समस्यापूर्तियों और कविता-पाठ की धूम मची रहती। 'प्रसाद' के मन पर इस वातावरण का प्रभाव पड़ा। आप भी लुक छिप कर 'कुछ' लिखा करते थे। बारह वर्ष की आयु में ही आप पितृविहीन हो गए। स्कूली शिक्षा सातवें दर्जे से आगे नहीं बढ़ पाई। घर पर ही आपको संस्कृत, अंग्रेज़ी पढ़ाने का प्रबन्ध किया गया। संवत् १९५७ में आपने अपनी मा के साथ ओंकारेश्वर, उज्जैन, बृज आदि स्थानों की धार्मिक यात्रा की। मध्यप्रांत मे नर्मदा के उद्गम स्थान—अमरकंटक—की यात्रा के समय उसकी वनश्री ने आपके हृदय में जो उल्लास, जो प्रेरणा दी वह आपको आजन्म स्मरण रही—विशेषकर पर्वतमाला के बीच नर्मदा के वक्षस्थल पर किया गया नौका-विहार का दृश्य सदा आपकी आँखों के आगे झूलता रहा।

पिता जी की मृत्यु के तीन वर्ष बाद ही आपकी माता ने सदा के लिए आपसे विदा ले ली; और दो ही वर्ष बाद आपके ज्येष्ठ भ्राता भी आपको परिवार में एकाकी छोड़कर स्वर्गवासी हो गए।

यौवन की देहली पर पैर रखते ही प्रसादजी पर यह पारिवारिक आघात!

तब क्यों आपके 'करुणा कलित हृदय में असीम वेदना' न गरजती ? आपने श्रीमती महादेवी के समान अपनी सजल अनुभूति को मनोवैज्ञानिक आवरण में यह कह छिपाने का प्रयास नही किया कि—"मैने जीवन में कभी वेदना का अनुभव नहीं किया । इसीसे मै वेदना से प्यार करती हूँ।"

आपका हृदय वस्तुतः आघातो से जर्जरित होता रहा । वैवाहिक जीवन में भी आपको दो बार पत्नी-वियोग सहना पड़ा था ।

सन् १६१० से आपकी साहित्य-सेवा का श्री गणेश होता है—आपके भान्जे बाबू अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने "इदु" को प्रकाशित करना प्रारम्भ किया । 'प्रसाद' जी उसके प्रमुख लेखक और कवि थे । 'सरस्वती' मे उस समय आपकी कोई रचना नहीं छपी । इसका कारण, यह कहा जाता है कि "प्रसाद जी का आचार्य द्विवेदी से कुछ मतभेद था । "

आपने साहित्य के प्रत्येक अग—निबध, कहानी, उपन्यास, नाटक और कविता की पूर्ति की और उनमें अपने व्यक्तित्व को अकित किया । आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों का आरम्भ आपकी रचनाओ से होता है । बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न प्रसाद हममें अधिक काल तक न रह सके । हिन्दी के दुर्भाग्य से राज्ययक्ष्मा से पीड़ित हो आपने १५ नवम्बर १६३७ को अपनी इहलीला समाप्त की ।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने आपके निधन पर ही लिखा थाः—

'जयशंकर' कहते-कहते ही अब भी काशी आवेंगे ।
किन्तु 'प्रसाद' न विश्वनाथ का मूर्तिमान हम पावेंगे ।
तात, भस्म भी तेरे तनु की हिन्दी की विभूति होगी ।
पर हम जो हँसते आते थे, रोते रोते जावेंगे ॥

शुद्धि पत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१	'हुए...	हुए
,,	७	हैं	है
,,	११	उच्छ्वसित	उच्छ्वसित
,,	२३	वाह्य	वाह्य
२	१२	उनमे	उनमें
,,	१७	स्थल	स्थूल
३	८	सुन्दरभ	सुन्दरम्
,,	१०	यगविल्डर	यंग विल्डर
४	६	चोपदेष्टव्या	चोपदेष्टव्याः
,,	७	कर्त्तव्य तथान्येपां	कर्त्तव्यतयान्येषा
,,	८	काव्याङ्ग तया	काव्याङ्गतया
,,	६	कवेस्त्र	कवेरत्र
१०	८	नारा	नारी
११	५	Puritanage	Puritan age
१२	४	गढतु	गड़तु
१३	७	चूकि	चूँकि
१४	२३	duty	beauty
१५	८	आशक्ति	आसक्ति
,,	१०	ब्रह्म	ब्रह्म
१६	१२	आनन्दादेव खल्विभानि	आनन्दादेव खल्विमानि
,,	,,	भृतानि	भूतानि
,,	,,	जायन्ति	जातानि
,,	,,	विशन्ति	संविशन्ति
१७	१३	खिचाव	खिंचाव
१८	१८	व्यक्ति	व्यक्ति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	४	पिरु	पिउ
२०	३	और	....
२२	८	को	की
,,	१०	मे	...
,,	१६	वक्तृता	वक्रता
२३	१८	मह	मुँह
२६	१६	वास्तवाद	वास्तववाद
२७	१	माक्स	मार्क्स
२७	२४	क्राति-संघर्ष	क्राति-संघर्ष—
३५	६	breathing	beings,
,,	२०	flesh	flesh,
,,	२४	please	pleases
३८	३	उद्जीर्ण	उद्गीर्ण
३६	१	कल	बाल
,,	१६	पुरुष का	पुरुष को
४०	१७	परी	भरी
४३	२४	वस्तुएँ जिनका	वस्तुएँ हैं जिनका
,,	२५	हिमशल	हिमशैल
,,	२७	'स्वप्नावस्था' में 'हालदशा' में	'स्वप्नावस्था' में-'हालदशा'-में
४४	१३	चेष्टाएँ	चेष्टाएँ,
,,	१४	प्रयत्न	प्रयत्न,
४६	२३	नियति	नियति—
४७	७	मुक्तक के	मुक्तक में
,,	२५	में । आँसू	में" (आँसू)
४८	१६	खेला था ।"	खेलाया ।"
,,	२६	पड़ी	पड़ी ।
४८	२६	ध्वनि से अर्थव्यञ्जना	ध्वनि से अर्थ-व्यञ्जना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६	१	लिए। "कॉटों...	लिए "कौंटों .
,,	३	नहा	नहीं
,,	८	सिहर ही	सिहर सी
५०	१	?	।
५२	२३	युद्ध-प्रकृति	शुद्ध प्रकृति
५३	१७	प्रकाशित हैं। अतः	प्रकाशित हैं, अतः
,,	१६	विकास दशा	विकास-दशा
५४	२०	आदि ऐक्य	आदि-ऐक्य
५६	१	क्षुधार्त रोहिताश्व	क्षुधार्त मिलते हैं। रोहिताश्व
,,	२	लाते हैं	लाता है
,,	४	होता है	होते हैं
,,	१८	उनकी इस	उसकी झाँकी इस
,,	२३	नहीं इसलिये	नहीं। इसलिये
५७	१	स्वर,	स्वर—
,,	२	आदि	आदि—
,,	११	है	है,
,,	१५	है।	था।
५८	३	है	।
,,	१३	दिया है	दिया गया है
५८	१४	बाह्य आत्मकता	बाह्यात्मकता
,,	१५	कहता	कहते
६१	१४	जलन कामना	जलन-कामना
,,	१७	मुक्त	मुक्त
,,	,,	में कलापूर्ण	मे हर स्थल पर कलापूर्ण
,,	१८	अभिव्यक्ति हरस्थल पर नहीं	अभिव्यक्ति नहीं
६२	१३	'तब	'तव
६२	२५	बन	वन
६३	१६	भीड़ों	मीड़ों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६३	२४	वसन्त-दर्शं	वसन्त-दर्शन्
६४	५	सका है।	सके हैं।
,,	६	वह	वे
,,	७	पाया	पाये
६५	१६	लाये !	लाये
६६	१७	सौरभ,	सौरभ
६६	२	तीव्रतम	तीव्रतम
७६	२६	उसने	उन्होंने
,,	२७	उसी	उन्हीं
,,	,,	अधिक वह	अधिक कि वह
,,	२८	सकता है	सकते हैं
७७	१०	वर्जनात्मकता	वर्णनात्मकता
७८	६	EP1c	Epic
,,	७	मत में	मत से
७९	१२	यह	वह
८२	२१	उठा है	उठे हैं
८५	१२	जड़ चैतन्य	जड़ और चैतन्य
८९	१२	वोली	बोली
९२	११	प्रतिभा	प्रतिमा
९५	१९	जब रुद्र . जाता है ......(अनावश्यक)	
९६	१	कैलास	'कैलास'
,,	४	दी है	दी
९७	१२	प्रखरित	मुखरित
१०५	६	हृयय	हृदय
१०६	१२	मवेरे	सवेरे
१०८	२१	करती हैं। उसी...	करती है उसी...
,,	२४	विखरे	बिखरे
११२	७	कर्ण-शस्कुली	कर्ण-शष्कुली

	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
	२०	रूप सरोवर	रूप-सरोवर
११७	१५	'उसकी'	'उनकी'
,,	१८	किसीने	प्रिय ने
११८	६	हो गई थी।	हो गई थी)
,,	११	जाती थीं।)	जाती थीं।
,,	२६	भावना	इच्छा
११६	१६	हाल की स्वप्न की	हाल की-स्वप्न की-
,,	२१	रह गये—	रह जाते हैं।
१२०	१२	मानो मेरे	मानो कोई मेरे
१२१	३	में मै हूँ	है
१२६	१३	!	।
,,	१५	उच्छ्वसित	उच्छ्वसित
१२८	२२	हो रहा था	गया
१३२	२४	इससे	उससे
१३३	२३	तब तुम	तब भी तुम
१३७	१०	हो, उसकी	हो तो उसकी
,,	१०	हो	होगी
,,	११	हो जाये	हो जायेगी
१४०	१	ओर	और

आगामी प्रकाशन

हिन्दी में प्रगतिवाद

ले० प्रोफेसर विनयमोहन शर्मा,

एम० ए०, एल-एल० बी०